ज्ञान-विज्ञान

शैक्षिक निबन्ध

सम्पादक

कृष्ण कुमार मिश्र

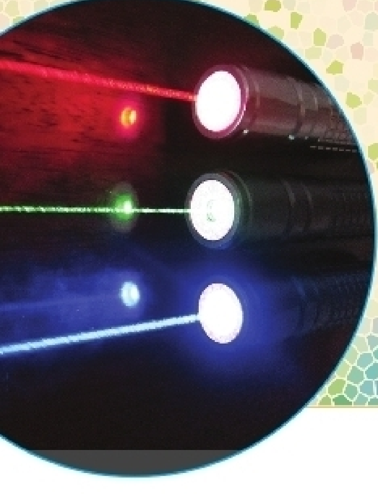

होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केंद्र

टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान

ज्ञान–विज्ञान

शैक्षिक निबन्ध

सम्पादक

कृष्ण कुमार मिश्र

HBCSE

होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र

टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान

ज्ञान–विज्ञान: शैक्षिक निबन्ध

- सम्पादक : डॉ. कृष्ण कुमार मिश्र
- प्रकाशक : होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र
  टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान
  वी. एन. पुरव मार्ग, मानखुर्द
  मुंबई–400088
- © सर्वाधिकार : होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र, मुंबई
- शब्द संयोजन एवं पृष्ठ योजना : आकांक्षा गजभिये, मोहम्मद ज़फर
- आवरण : के. आर. मनोज
- संस्करण : प्रथम, वर्ष 2013

प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना यह पुस्तक या इसका कोई अंश, इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटोकॉपी या किसी भी अन्य रूप में प्रकाशित या संग्रहीत नहीं किया जा सकता।

विशेष:– इस पुस्तक में आलेखों के संगत चित्र विकीपीडिया मुक्त ज्ञानकोष (http://www.wikipedia.org) से साभार लिए गए हैं।

आवरण:– छवियाँ http://commons.wikimedia.org से साभार

HBCSE

अनुक्रमणिका

- प्राक्कथन/प्रो. जयश्री रामदास v
- संपादकीय/डॉ. कृष्ण कुमार मिश्र vi

01. विज्ञान शिक्षा हेतु ई–लर्निंग पोर्टल का विकास 1
डॉ. कृष्ण कुमार मिश्र

02. डोरोथी हॉजकिन: एक अनुकरणीय व्यक्तित्व 11
प्रो. विजय ए. सिंह

03. विज्ञान पत्रकारिता: विविध आयाम 19
डॉ. धनंजय चोपड़ा

04. ऊर्जा का नवीकरणीय एवं अक्षय स्रोत–बायोमास 25
डॉ. दिनेश मणि

05. सब्ज़ियाँ और हमारा स्वास्थ्य 33
डॉ. ए. के. पाण्डेय

06. प्रति–आक्सीकारक 44
डॉ. अर्चना पाण्डेय

07. भारत की खाद्य–सुरक्षा तथा जैविक खेती 54
डॉ. गिरीश पाण्डेय

08. भूकंप: एक विनाशकारी प्राकृतिक आपदा 70
डॉ. सुबोध महंती

HBCSE

09. लेसर– बीसवीं सदी का महत्वपूर्ण आविष्कार 95
डॉ. प्रदीप कुमार मुखर्जी

10. मृदा स्वास्थ्य प्रबन्धन– एक वैज्ञानिक विवेचन 108
डॉ. रमेश चन्द्र तिवारी

11. जीवनोपयोगी सूक्ष्ममात्रिक तत्व 113
डॉ. शिवगोपाल मिश्र

12. विषाक्त फल और सब्ज़ियाँ 126
डॉ. सुनन्दा दास

13. धातु संकुल: महत्व एवं उपयोगिता 133
डॉ. अमर श्रीवास्तव

14. रेडियोकार्बन आयुनिर्धारण तकनीक सिद्धान्त एवं अनुप्रयोग 148
डॉ. चन्द्र मोहन नौटियाल

15. चार्ल्स डार्विन और उनका विकासवाद 163
डॉ. प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

16. जैव विविधता तथा उसका संरक्षण 173
डॉ. सोनाली चतुर्वेदी

17. विकलांगों की शिक्षा और कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी 187
विनोद कुमार मिश्र

18. वर्तमान ग्रामीण परिवेश और कृषि 197
विजय चितौरी

......

HBCSE

–: प्राक्कथन :–

आज एक तरफ विज्ञान और प्रौद्योगिकी तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। इस प्रगति के फल और इनके प्रभाव, दुनिया के हर एक कोने में पहुँच रहे हैं। संचार माध्यमों के जरिए पृथ्वी पर हजारों मील दूर स्थित प्रदेश जैसे एक बड़े संजाल में परस्पर जुड़ गए हैं। दूसरी तरफ इसी प्रगति के प्रयोजन में और इसी विश्वव्यापी संजाल के आधार पर पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधनों का बड़ी तेजी से शोषण होता जा रहा है। कहीं रैपिड ट्रान्सिट ट्रेनों के संचालन के लिए प्राकृतिक संसाधनों पर कुठाराघात किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप देश के किसी और भाग में आदिवासियों को खनन के लिए विस्थापित होना पड़ता है, तो कहीं फेसबुक के आधार पर राष्ट्रीय चुनाव लड़े जाते हैं। इस माहौल में आम आदमी के लिए वैज्ञानिक साक्षरता अत्यावश्यक ही है। ऐसी साक्षरता के प्रयास में लोकभाषा में लिखी शैक्षिक सामग्री की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है।

होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केंद्र (TIFR), ने विज्ञान परिषद् प्रयाग के तत्वावधान में वर्ष 2010 में द्वितीय राष्ट्रीय कार्यशाला आयोजित की थी। उस कार्यक्रम के द्वारा सृजित निबन्धों का संग्रह इस पुस्तक रूप में दिखाई दे रहा है। देश भर के 18 वैज्ञानिकों और विज्ञान लेखकों ने यह संग्रह बनाने में अपना योगदान दिया है। कार्यशाला का समन्वय होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केंद्र में कार्यरत और विज्ञान लेखन में अनेक बरसों से सक्रिय डा. कृष्ण कुमार मिश्र ने किया, और इस निबंध संग्रह का संपादन इन्हीं ने किया है। मुझे विश्वास है कि यह किताब राजभाषा हिन्दी में विज्ञान के लोकव्यापीकरण में अहम भूमिका निभाएगी।

प्रो. जयश्री रामदास
केन्द्र निदेशक

होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र
टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान
मुंबई

–: संपादकीय :–

आज का युग सूचना तथा संचार का युग है। देश में पिछले तीन दशकों में सूचना और संचार प्रौद्योगिकी (ICT) की सेवाओं का ज़बरदस्त विस्तार हुआ है। संचार माध्यमों में इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों का दायरा तथा प्रभाव तेजी से बढ़ रहा है। जीवन के हर क्षेत्र में इसे अनुभव किया जा रहा है। अपनी विविध युक्तियों के जरिये ये माध्यम समाज को सूचना संचय तथा संचार के बहुमुखी साधन सुलभ करा रहे हैं। शिक्षा का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रहा है। बेहतर पठन–पाठन, शिक्षण तथा प्रशिक्षण के लिए इलेक्ट्रॉनिक सामग्री आज उपयोगी साबित हो रही है तथा आने वाले दिनों में इसकी आवश्यकता तथा उपादेयता बढ़ने वाली है। आज की कक्षा नवयुगीन साधनों तथा युक्तियों से सुसज्जित होती जा रही है। शिक्षा में दृश्य–श्रव्य तथा ऐनिमेशन युक्तियों का प्रचलन तेजी से बढ़ रहा है। संक्षेप में कह सकते हैं कि शिक्षण प्रणाली में तेजी से बदलाव आ रहा है तथा पारंपरिक युक्तियों का स्थान अब इलेक्ट्रॉनिक युक्तियां लेती जा रही हैं। यानी वर्तमान शिक्षा अब तेजी से ई–शिक्षा की ओर अग्रसर है।

हमारे लिए यह बहुत महत्वपूर्ण है कि ब्रह्माण्ड के बारे में ज्ञान की पहुंच या सुलभता सार्वत्रिक होनी चाहिए। राष्ट्र के संविधान की समतामूलक भावना तथा समावेशी मूल्यों के आलोक में यह कार्य नितांत जरूरी है। और यह महत्वपूर्ण कार्य हिन्दी सहित अन्य भारतीय भाषाओं के जरिए ही हो सकता है। हिन्दी जगत बहुत बड़ा है। जाहिर है उसकी जरूरतें तथा अपेक्षाएं भी बहुत बड़ी हैं। होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र द्वारा हिन्दी में शैक्षिक सामग्री का विकास किए जाने के प्रयास के मूल में यही भावना है। होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र (TIFR) मुंबई, ने विज्ञान के लिए शैक्षिक ई–सामग्री के सृजन की पहल करते हुए इंटरमीडिएट स्तर तक के हिन्दी माध्यम के छात्रों तथा अध्यापकों के लिए एक स्वतंत्र ई–लर्निंग पोर्टल (http://ehindi.hbcse.tifr.res.in) विकसित किया है। इस वेबसाइट की शुरुआत वर्ष 2008 में की गयी थी।

हिन्दी में शैक्षिक ई–सामग्री के विकास के लिए पहल करते हुए होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र ने वर्ष 2008 तथा 2010 में विज्ञान परिषद प्रयाग के तत्वावधान में राष्ट्रीय कार्यशालाएं आयोजित की।

इन कार्यशालाओं में देश के जाने–माने वैज्ञानिकों, शिक्षकों तथा विज्ञान संचारकों को प्रतिभागी विशेषज्ञ के रूप में व्याख्यान हेतु आमंत्रित किया गया था। इन विशेषज्ञों के व्याख्यान डिजिटाइज करके संपादनोपरान्त होमी भाभा केन्द्र के उपरोक्त वेबसाइट पर अपलोड किए जा चुके हैं। इस कार्यशाला के विशेषज्ञों से यह आग्रह भी किया गया था कि वे अपनी प्रस्तुति पर आधारित एक सरल तथा रोचक निबन्ध इस कार्यक्रम के आयोजक को सौंपें जिसे पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जा सके। प्रथम कार्यशाला के 15 चयनित निबन्ध, "ज्ञान–विज्ञान: समकालीन शैक्षिक निबन्ध" शीर्षक से होमी भाभा केन्द्र द्वारा वर्ष 2009 में पुस्तक रूप में प्रकाशित भी किए जा चुके हैं। यह पुस्तक आनलाइन तथा पीडीएफ, दोनों फार्मैट में उपरोक्त पोर्टल पर उपलब्ध है।

इस पोर्टल पर ई–व्याख्यान, ई–प्रस्तुतियां, ई–पुस्तकें, ई–लेख, ई–रिपोर्ट, ई–पत्रिका, ई–शब्दावली, विज्ञान प्रश्नोत्तरी, झलकियां, विविधा तथा उपयोगी इंटरनेट लिंक मौजूद हैं। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में हर तारीख का महत्व जानने के लिए एक विज्ञान कैलेंडर भी है जो उस दिन की अहम वैज्ञानिक घटनाओं तथा उपलब्धियों की जानकारी देता है। इस वेबसाइट पर होमी भाभा केन्द्र द्वारा तैयार स्कूली पाठ्यक्रम की विज्ञान की पुस्तकें तथा लोकोपयोगी विज्ञान की कई किताबें उपलब्ध हैं। यहां पर भौतिकी, रसायन, जीवविज्ञान, जैवप्रौद्योगिकी, नैनोसाइंस, मृदाविज्ञान से लेकर कृषि–विज्ञान तक, अनेक विषयों पर रुचिकर व्याख्यान भी दिए गए हैं।

वर्ष 2010 में आयोजित द्वितीय राष्ट्रीय कार्यशाला के कुल 18 चयनित निबन्धों की यह पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता है। इस कार्यशाला के कुल 26 व्याख्यान उपरोक्त वेबसाइट पर डाले जा चुके हैं। इस तरह इन कार्यक्रमों से इलेक्ट्रॉनिक तथा मुद्रित, दोनों तरह की सामग्रियां सृजित किए जाने का प्रयास किया गया है। विज्ञान पर इन शैक्षिक सामग्रियों के बारे में अपने विचारों तथा सुझावों से आप हमें जरूर अवगत कराएं। इसके लिए 'आपके सुझाव' स्तम्भ के जरिए आप हमें ई–मेल भेज सकते हैं। आप अलग से भी ई–मेल के द्वारा ehindi@hbcse.tifr.res.in पर पत्र लिखकर अपनी राय व्यक्त कर सकते हैं।

डॉ. कृष्ण कुमार मिश्र

संपर्क:–
होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र
टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान
वी. एन. पुरव मार्ग, मानखुर्द
मुंबई–400088
फोन– 022–25072210
ई–मेल:kkm@hbcse.tifr.res.in

HBCSE

ज्ञान–विज्ञान

शैक्षिक निबन्ध

HBCSE

विज्ञान शिक्षा हेतु ई-लर्निंग पोर्टल का विकास

(http://ehindi.hbcse.tifr.res.in)

▪ **डॉ. कृष्ण कुमार मिश्र**

पृष्ठभूमि

सूचना तथा संचार प्रौद्योगिकी (ICT) के क्षेत्र में आयी क्रान्ति ने समूचे वैश्विक परिदृश्य को बदल दिया है। पिछले कुछ वर्षों में डिजिटल माध्यम विज्ञान संचार के एक सशक्त तथा प्रभावी विधा के रूप में उभरा है जिसमें दृश्य, श्रव्य, वीडियो, एनिमेशन और अनुरूपण के द्वारा सूचना को प्रभावी तरीके से लक्ष्य वर्ग तक पहुंचाया जा सकता है। शिक्षा में पाठ्य-सामग्री के बेहतर अधिगम तथा विज्ञान की संकल्पनाओं की समझ विकसित करने में ई-सामग्री मददगार साबित हो रही है। इसलिए आजकल शैक्षिक ई-सामग्री के विकास पर काफी बल दिया जा रहा है। हिन्दी जगत बहुत बड़ा है। जाहिर है, उसकी आवश्यकताएँ तथा अपेक्षाएं भी बहुत बड़ी और व्यापक हैं। इसी पृष्ठभूमि में वर्ष 2008 के उत्तरार्द्ध में होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र, (TIFR), मुंबई ने विज्ञान के लिए शैक्षिक ई-सामग्री के विकास तथा प्रसार की दिशा में पहल करते हुए एक स्वतंत्र ई-लर्निंग पोर्टल (http://ehindi.hbcse.tifr.res.in) का प्रणयन किया।

यह लर्निंग पोर्टल स्कूल तथा कालेज स्तर तक के हिन्दी माध्यम के छात्रों, शिक्षकों, शिक्षक-प्रशिक्षकों तथा शिक्षा अधिकारियों की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए तैयार किया गया है। इस पोर्टल पर ई-व्याख्यान, ई-बुक्स (आनलाइन तथा पीडीएफ दोनों रूपों में), ई-ग्लॉसरी, ई-जीवनी, ई-डॉक्युमेंट्रीज, ई-प्रश्नमाला, तथा इंटरैक्टिव ई-प्रश्नमंच मौजूद हैं। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में हर दिन का महत्व जानने के लिए 'विज्ञान की दुनिया' नामक स्तम्भ भी है। यह एक तरह का साइंस कैलेण्डर है जो पाठक को उस रोज की अहम वैज्ञानिक घटनाओं तथा उपलब्धियों की जानकारी देता है। इस वेबसाइट पर होमी भाभा केन्द्र द्वारा विकसित पाठ्यक्रम की पुस्तकें तथा लोकोपयोगी विज्ञान की किताबें, पाठकों के लिए उपलब्ध हैं। पाठक चाहें तो इन्हें डाउनलोड कर सकते हैं तथा प्रिण्टआउट ले सकते हैं। इस वेबसाइट पर भौतिकी, रसायन विज्ञान, जीवविज्ञान, जैवप्रौद्योगिकी, नैनोसाइंस, मृदाविज्ञान से लेकर कृषि-विज्ञान तक पर विशेषज्ञों के रुचिकर व्याख्यान दिए गए हैं।

HBCSE

प्रस्तावना

देश में अस्सी के दशक के मध्य से शुरू हुए कंप्यूटरीकरण ने उदारीकरण के बाद सूचना तथा संचार प्रौद्योगिकी को पंख लगा दिए। विगत कुछ वर्षों के दौरान डिजिटल माध्यम एक सशक्त तथा प्रभावी विधा के रूप में उभरा है। ऐसा इसलिए क्योंकि इसमें दृश्य, श्रव्य, वीडियो, एनिमेशन और अनुरूपण के जरिये सूचना तथा ज्ञान-विज्ञान की बातें प्रभावी ढंग से लक्ष्य वर्ग तक पहुँच रही हैं। विज्ञान शिक्षा के क्षेत्र में पठन-पाठन के लिए इलेक्ट्रानिक सामग्री बहुत उपयोगी साबित हो रही है तथा इन दिनों इसके विकास पर काफी जोर दिया जा रहा है। तमाम संस्थाएं तथा संगठन डिजिटल सामग्री आजमा रहे हैं। देश और दुनिया का हिन्दी संसार बहुत बड़ा है। जाहिर है, उसकी आवश्यकताएँ भी बहुत बड़ी हैं। सूचना प्रौद्योगिकी का लाभ आम आदमी तक भी पहुँचे, यह अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं में ई-लर्निंग की दिशा में किए जाने वाले प्रयासों के पीछे यही भावना काम कर रही है।

अंतर्जाल (इंटरनेट) तथा वर्ल्ड वाइड वेब (WWW)

ई-शिक्षा को समझने से पहले कुछ तकनीकी बातों से परिचित होना जरूरी है। इंटरनेट आज विश्व की सर्वाधिक सक्षम सूचना-प्रणाली है। इंटरनेट विश्व के विभिन्न स्थानों पर स्थापित कम्प्यूटरों के नेटवर्क को टेलीफोन लाइन की सहायता से जोड़ कर बनाया गया एक अंतर्राष्ट्रीय सूचना महामार्ग है जिस पर पलक झपकते ही सूचनाएँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाती हैं। इंटरनेट से किसी भी विषय जैसे वाणिज्य, शिक्षा, मनोरंजन व विज्ञान आदि पर शीघ्रता और सरलता से जानकारियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। उपयोगकर्ता द्वारा अपने सामान एवं सेवाएँ, क्रय-विक्रय, सौदों तथा सेवाओं के निर्धारण, व्यापार के विज्ञापन व निर्धारण, रुचियां खोजने, सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति में इंटरनेट का उपयोग दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। इंटरनेट पर विश्व में कहीं भी रहने वाले व्यक्ति से बातें की जा सकती हैं, इलेक्ट्रॉनिक समाचार-पत्र पढ़ा जा सकता है, शेयर बाजार पर नजर रखी जा सकती है, शिक्षा प्राप्त तथा प्रदान की जा सकती है, विज्ञापन दिए जा सकते हैं, पुस्तकालयों से आवश्यक सूचना प्राप्त की जा सकती है, वीडियों अथवा आडियो कैसेट देख सुन सकते हैं।

इंटरनेट के जरिए कंप्यूटरों पर दिखायी देने वाला टैक्स्ट वास्तव में सर्वर में डिजिटल रूप में संचित होता है। मांगे जाने पर यह सूचना दूसरे कंप्यूटर को प्रेषित की जाती है। इस प्रोग्राम को हाइपर टैक्स्ट ट्रांसफर

प्रोटोकोल (http) कहते हैं। कम्प्यूटर की भाषा अलग होती है। उस तकनीकी भाषा को हाइपर टैक्स्ट मार्कअप लैंग्वेज (html) कहते हैं। एक कम्प्यूटर किसी दूसरे कंप्यूटर से परस्पर इसी भाषा में संवाद करता है।

इलेक्ट्रानिक मेल

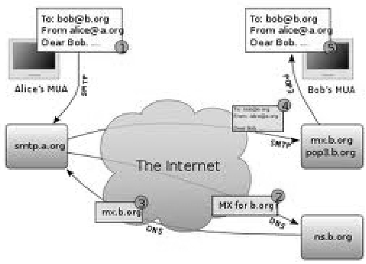

ई-मेल प्रणाली का रेखाचित्र

इलेक्ट्रानिक मेल का संक्षिप्त रूप है ई-मेल। ई-मेल के तीन आवश्यक घटक हैं- निजी कंप्यूटर, टेलिफोन और माडेम संयोजक। ई-मेल के अंतर्गत कम्प्यूटर में एकत्र सूचनाएँ, आँकड़े, जानकारियाँ एवं तस्वीरें आदि अपने गंतव्य ई-मेल बॉक्स तक टेलीफोन लाइनों द्वारा भेजी जाती हैं। अन्य सूचनाओं की अपेक्षा ई-मेल की सेवा बहुत अधिक अच्छी हैं। ई-मेल अपने गंतव्य तक विश्व के किसी भी भाग में अल्प समय में पहुंच जाती है। अगर प्राप्तकर्ता कोई स्पष्टीकरण चाहता है तो प्रेषक से तुरन्त संपर्क कर जवाब प्राप्त कर सकता है। दुनिया में कुछ पॉपुलर वेबसाइट्स हैं जिनका इस्तेमाल ई-मेल भेजने व प्राप्त करने के लिए बहुतायत से किया जाता है। ये हैं, www.gmail.com, www.yahoo.com, तथा www.rediffmail.com । वर्ल्ड वाइड वेब को www या संक्षेप में वेब के नाम से भी जाना जाता है। इंटरनेट पर जानकारी वितरित करने या इंटरनेट से जानकारी प्राप्त करने का यह सर्वाधिक प्रचलित साधन है। वर्ल्ड वाइड वेब के अंतर्गत टैक्स्ट, ग्राफ, संगीत, तस्वीर, फिल्म, आदि सभी संग्रहीत किए जा सकते हैं तथा इंटरनेट यूज़र्स को सुलभ कराए जा सकते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में ई-मेल से लेखों, पाण्डुलिपियों, पुस्तकों, शोधपत्रों का संप्रेषण बहुत द्रुत तथा सरल हो गया है।

ई-मेल का आदान-प्रदान

ई-शिक्षा के निहितार्थ

ई-शिक्षा कौशल एवं ज्ञान का कंप्यूटर एवं नेटवर्क आधारित अंतरण है। ई-शिक्षा इलेक्ट्रॉनिक अनुप्रयोगों और सीखने की प्रक्रियाओं के उपयोग को

रेखांकित करती है। ई-शिक्षा के अनुप्रयोगों और प्रक्रियाओं में वेब-आधारित शिक्षा, कंप्यूटर-आधारित शिक्षा, आभासी कक्षाएं और डिजिटल युक्तियां शामिल हैं। इसमें इंटरनेट, इंट्रानेट/एक्स्ट्रानेट, ऑडियो या वीडियो टेप, उपग्रह टीवी, और सीडी-रोम (CD-ROM) के माध्यम से पाठ्य सामग्रियों का वितरण किया जाता है। ई-शिक्षा का दायरा बहुत बड़ा है तथा दिनोंदिन इसमें विस्तार होता जा रहा है।

होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र की पहल

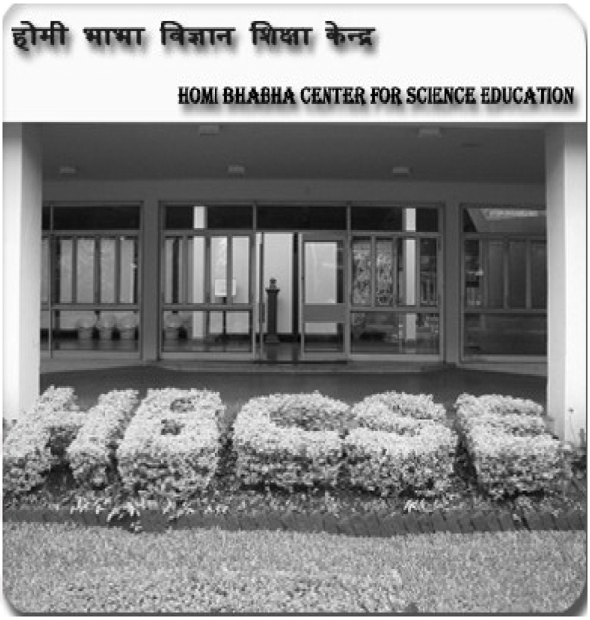

होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र (HBCSE), मुंबई स्थित टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान (TIFR) एक राष्ट्रीय केन्द्र है। विज्ञान तथा गणित शिक्षा में समता तथा उत्कृष्टता को बढ़ावा देना इस केन्द्र के व्यापक उद्देश्यों में से एक है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह केन्द्र कई तरह के परस्पर संबद्ध कार्य करता है जैसे न्यूननिष्पादन वाले छात्रों के लिए उपचारात्मक अध्यापन-विद्या का विकास, कम कीमत के प्रायोगिक उपकरणों का विकास, विज्ञान के इतिहास पर प्रदर्शनी, शिक्षक प्रशिक्षण, पाठ्यक्रम, सहपाठ्यक्रम, तथा व्याख्यात्मक पुस्तकों तथा सामग्रियों का विकास, मेधावी छात्रों के लिए टैलेन्ट नर्चर प्रोग्राम, तथा विज्ञान शिक्षा के लिए प्रगत प्रयोगशालाओं का विकास। होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र, भौतिकी, रसायन विज्ञान, जीवविज्ञान, खगोल-विज्ञान तथा जूनियर साइंस में ओलंपियाड का भारत सरकार का नोडल सेन्टर है। केन्द्र ने अपनी स्थापना के तीन दशकों में प्रचुर मात्रा में शैक्षिक सामग्रियों का विकास किया है। ये सामग्रियां मुद्रित रूप में मौजूद हैं। सूचना युग में बदलते समय के साथ ऐसा अनुभव किया गया कि प्रिण्ट के साथ साथ इलेक्ट्रानिक सामग्रियों का भी सृजन हो। इसी के तहत ई-हिन्दी नाम से

एक समर्पित लर्निंग पोर्टल (http://ehindi.hbcse.tifr.res.in) का प्रणयन किया गया। यह पोर्टल अभी अपनी शैशवावस्था में है तथा आशा है कि यह आने वाले वर्षों में उत्तरोत्तर पुष्ट तथा समृद्ध होता जाएगा।

Http://ehindi.hbcse.tifr.res.in

होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र (TIFR) मुंबई, ने स्कूल तथा कालेज स्तर तक के हिन्दी माध्यम के छात्रों तथा अध्यापकों के लिए हिन्दी में एक स्वतंत्र ई-लर्निंग पोर्टल (http://ehindi.hbcse.tifr.res.in) विकसित किया है। इस वेबसाइट की शुरुआत वर्ष 2008 के उत्तरार्द्ध में की गयी। इस पोर्टल पर ई-व्याख्यान, ई-बुक्स (आनलाइन तथा पीडीएफ दोनों रूपों में), ई-ग्लॉसरी, ई-जीवनी, ई-डॉक्युमेंटरीज, ई-प्रश्नमाला, तथा इंटरैक्टिव ई-प्रश्नमंच मौजूद हैं। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में हर दिन का महत्व जानने के लिए 'विज्ञान की दुनिया' नामक स्तम्भ भी है। यह एक तरह का साइंस कैलेण्डर है जो रोज की अहम वैज्ञानिक घटनाओं तथा उपलब्धियों की जानकारी देता है। इस वेबसाइट पर होमी भाभा केन्द्र द्वारा विकसित पाठ्यक्रम की पुस्तकें तथा लोकोपयोगी विज्ञान की किताबें पाठकों के लिए उपलब्ध हैं। पाठक चाहें तो इन्हें नि:शुल्क डाउनलोड कर सकते हैं तथा प्रिण्टआउट ले सकते हैं। इस वेबसाइट पर भौतिकी, रसायन, जीवविज्ञान, जैवप्रौद्योगिकी, नैनोसाइंस, मृदाविज्ञान से लेकर कृषि-विज्ञान तक पर विशेषज्ञों के रुचिकर व्याख्यान दिए गए हैं।

वेबसाइट पर उपलब्ध विज्ञान की पुस्तकें

कार्यविधि तथा सामग्री विकास

होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र, मुंबई ने वर्ष 2008 में "हिन्दी में शैक्षिक ई-सामग्री का विकास" पर पहली राष्ट्रीय कार्यशाला इलाहाबाद के विज्ञान परिषद प्रयाग के तत्वावधान में आयोजित किया। इसमें प्रतिभागी विशेषज्ञों से आग्रह किया गया था कि वे अपनी रुचि तथा विशेषताज्ञानुसार किसी रोचक विषय पर एक प्रस्तुति तैयार करके आएं जो कि इंटरमीडिएट स्तर के छात्रों के लिए उपयोगी हो। उन्हें यह सूचित किया गया था कि उनके व्याख्यान की वीडियोरिकॉर्डिंग करायी जाएगी

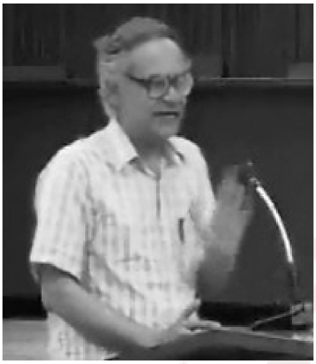

जिसे बाद में वेबसाइट पर सुलभ कराया जाएगा। इन व्याख्याताओं से यह भी आग्रह किया गया था कि वे अपनी प्रस्तुति पर आधारित निबन्ध आयोजक को सौंपें जिन्हें पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया जा सके। वर्ष 2009 में ऐसे 15 निबन्धों को 'ज्ञान-विज्ञान : समकालीन शैक्षिक निबन्ध' शीर्षक से होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र द्वारा पुस्तक रूप में प्रकाशित किया गया। इस वेबसाइट पर औषधीय पौधों पर रुचिकर डाक्यूमेण्टरी भी डाली गयी है तथा कुछ एक आमंत्रित व्याख्यान भी उपलब्ध कराए गए हैं।

HBCSE

इस कार्यशाला के व्याख्यानों की रिकार्डिंग को होमी भाभा केन्द्र, में डिजिटाइज किया गया। बाद में डिजिटल व्याख्यान को संपादन के बाद केन्द्र के शैक्षिक हिन्दी पोर्टल (http://ehindi.hbcse.tifr.res.in) पर अपलोड किया गया। यह पोर्टल प्लोन नामक प्लैटफार्म पर बनाया गया है। पहली कार्यशाला से कुल 15 व्याख्यान वेबसाइट पर डाले गए। होमी भाभा केन्द्र ने इस कार्यक्रम को द्विवार्षिक कार्यक्रम के तौर पर लिया है।

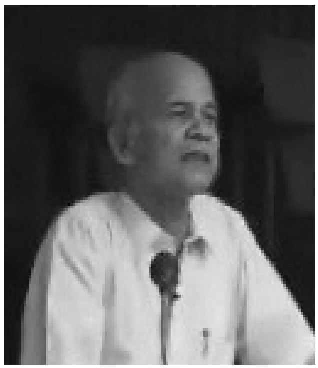

इसी क्रम में 2010 में पुन: विज्ञान परिषद प्रयाग में द्वितीय राष्ट्रीय कार्यशाला आयोजित की गयी। इस कार्यक्रम में कुल 26 व्याख्यान हुए जिन्हें उपरोक्त पोर्टल पर उपलब्ध करा दिया गया है। इस समय वैज्ञानिक विषयों पर कुल 43 ई-व्याख्यान इस

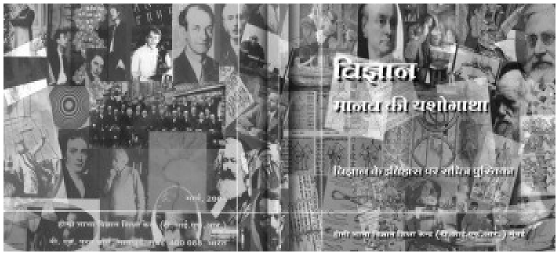

वेबसाइट पर उपलब्ध हैं। ये समस्त ई-व्याख्यान www.youtube.com पर डाले गये हैं। पाठक चाहें तो व्याख्यान के शीर्षक या व्याख्याता के नाम से इन्हें सीधे यूट्यूब पर भी खोज सकते हैं।

विज्ञान शिक्षा के क्षेत्र में इसके इतिहास की बहुत अहम भूमिका होती है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या ढाँचा (NCF) 2005 के प्रपत्र में इस बात को रेखांकित किया गया है कि विज्ञान शिक्षा में विषय के विकाससम्मत

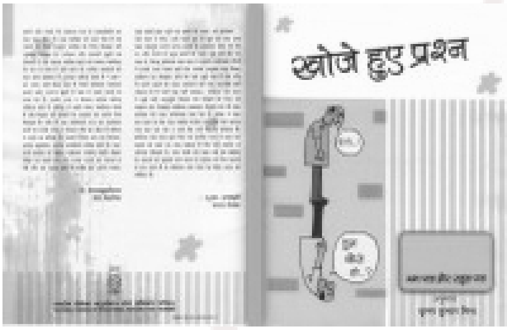

इतिहास का समावेश होना चाहिए। हमारे स्कूलों तथा कालेजों के पाठ्यक्रमों में विज्ञान के इतिहास के बारे में जानकारी मुश्किल से मिलती है। अध्ययन से यह पाया गया है कि आम तौर पर छात्रों की यह धारणा होती है कि विज्ञान एक तैयारशुदा चीज है जो पश्चिम से आयी है। विज्ञान के इतिहास पर जानकारी के निमित्त खानापूर्ति करने के लिए पाठ्यपुस्तकों में यदा-कदा कुछ नामचीन वैज्ञानिकों के चित्र तथा उनके संक्षिप्त जीवन परिचय दिए गए होते हैं। पुस्तकों के मुख्य आलेख में विज्ञान के इतिहास तथा उसके विकास की बातें बहुत कम ही मिलती हैं। अक्सर विज्ञान को अकेले पश्चिम की देन माना जाता रहा है। फिर भी अब

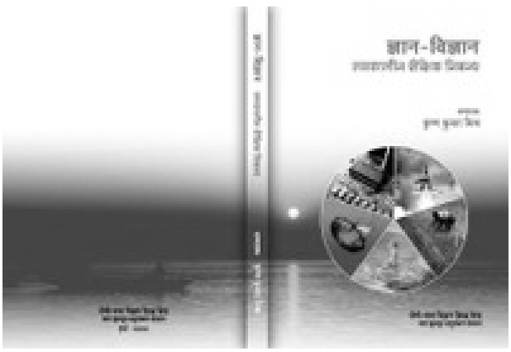

व्यापक तौर पर स्वीकार किया जाने लगा है कि मध्य-पूर्व में अरब तथा

पूरब में भारत तथा चीन के समृद्ध सांस्कृतिक अनुभवों से विज्ञान को बहुत कुछ हासिल हुआ है। विशेष करके गणित तथा खगोल-विज्ञान में भारत के योगदान को स्वीकृति मिली है। होमी भाभा केन्द्र ने विज्ञान-मानव की यशोगाथा, शीर्षक से प्रदर्शनी तैयार की है जिसका मकसद है छात्रों में विज्ञान का विकाससम्मत दृष्टिकोण पैदा करना तथा उन्हें भारत के योगदान के बारे में जानकारी देना।

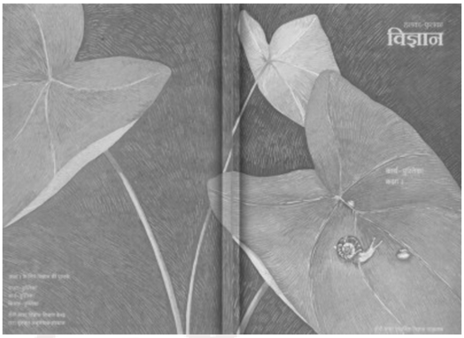

होमी भाभा केन्द्र ने प्राथमिक स्कूल लिए वैकल्पिक पाठ्यक्रम तैयार किया है। इसके अंगर्गत Small Science शीर्षक से पुस्तकों का प्रणयन हुआ है। हिन्दी में ये पुस्तकें 'हलका-फुलका विज्ञान' शीर्षक से अनूदित की गयी हैं। हर कक्षा के लिए तीन पुस्तकें हैं। पाठ्यपुस्तका, कार्यपुस्तिका तथा शिक्षक पुस्तिका। पहली दो पुस्तकें छात्रों के लिए हैं जब कि तीसरी पुस्तक अध्यापक के लिए है। कक्षा 3 तथा 4 की पुस्तकें पीडीएफ तथा आनलाइन रूपों में वेबसाइट पर डाल दी गयी हैं। विज्ञान के क्षेत्र में भारतीयों के योगदान से सुपरिचिति कराने के उद्देश्य से भारतीय विज्ञानियों की संक्षिप्त जीवनियां भी वेबसाइट पर डाली गयी हैं। पाठ्यक्रम के अलावा विज्ञान शिक्षा तथा लोकप्रिय विज्ञान पर कई पुस्तकें प्रकाशित हुई है। इनमें से कुछ किताबें नेशनल बुक ट्रस्ट (NBT) तथा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (NCERT) से छपी हैं। इन पुस्तकों के बारे में तथा उन्हें मंगाने के लिए पते वेबसाइट पर उपलब्ध हैं। कुछ

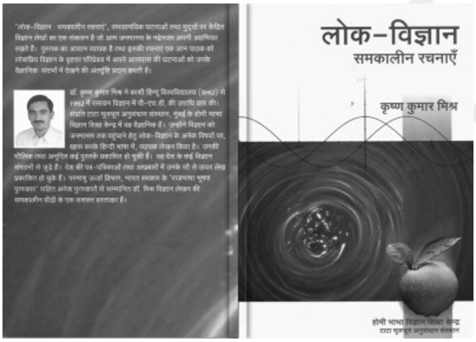

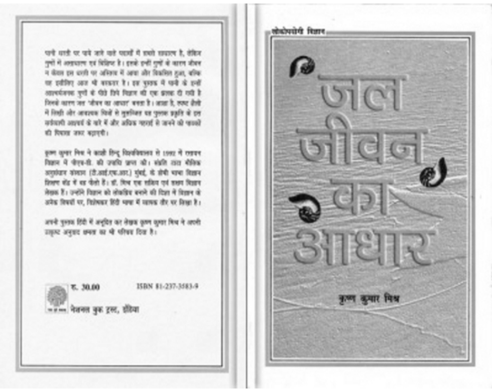

पुस्तकें होमी भाभा केन्द्र द्वारा प्रकाशित की गयी हैं। इन्हें पीडीएफ फार्मेट में पोर्टल पर डाल दिया गया है। इस वेबसाइट पर ई-ग्लॉसरी भी डाली गयी हैं। रसायन विज्ञान तथा जीवविज्ञान के लिए इंटरमीडिएट स्तर तक के पाठ्यक्रम में अकसर इस्तेमाल होने वाले उपयोगी अंग्रेजी तकनीकी शब्दों के हिन्दी रूपान्तर मौजूद है जो छात्रों के साथ साथ शिक्षकों के लिए भी उपयोगी हैं।

औषधीय पौधों पर एक छोटी लेकिन रुचिकर डाक्यूमेन्टरी इस वेबसाइट पर डाली गयी है। इस डाक्यूमेंटरी की स्क्रिप्ट तथा आवाज, एवं रिकार्डिंग होमी भाभा केन्द्र में हुई है। इनके अलावा ई-प्रश्नमाला भी दी गयी हैं जहां विषय-वस्तु पर प्रश्न तथा उनके बहुविकल्पी उत्तर दिए गये हैं। कोई भी यूज़र वेवसाइट पर लाग-इन करके अपना ज्ञान आजमाने के लिए प्रश्न हल करने का प्रयत्न कर

सकता है। कुल 10 प्रश्नों के उत्तर के बाद उन्हें सबमिट करने पर आपको सभी प्रश्नों के हल स्क्रीन पर मिलते हैं। आपके क्या उत्तर थे, तथा सही उत्तर क्या है, यह आपके समक्ष आ जाएगा। हर एक प्रश्न का उत्तर देने में आपने कितना समय लिया, यह भी आपको मालूम पड़ जाएगा। आपका कुल स्कोर कितना है तथा यह कैसा है, बेहतर, अथवा नहीं, यह आपको पता चल जाएगा। इस पोर्टल पर ई-प्रश्नमंच नामक स्तम्भ भी शुरू किया गया है जहां पाठक अपने प्रश्न पूछ सकते हैं। पोर्टल पर पंजीकृत पाठक इन प्रश्नों के उत्तर दे सकते हैं। यह एक तरह से इंटरैक्टिव प्लैटफॉर्म है। प्रश्न तथा उनके उत्तर के प्रकाशन के पहले संपादक इन्हें देख परख कर प्रकाशित करने की अनुमति देगा। "विज्ञान की दुनिया" नाम से एक और स्तम्भ दो वर्ष पहले शुरू किया गया है जिसमें विज्ञान जगत में उस दिन क्या हुआ, इसकी

भविष्य की शिक्षा के साधन

जानकारी मिलती है। कौन-से वैज्ञानिक का आज जन्मदिन है तथा कौन से वैज्ञानिक का आज की तारीख में निधन हुआ था, यह पोर्टल पर मिलेगा। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की उस दिन की अहम उपलब्धियों की एक झलक मिलती है।

ई-शिक्षा : भविष्य की दिशा

शिक्षा के साथ अब परीक्षा भी इलेक्ट्रानिक हो गयी है। अभी तक पढ़ाई लिखाई के इलेक्ट्रानिक साधनों का जिक्र हुआ मसलन ई-बुक्स, ई-क्लासेज, आनलाइन तथा आफलाइन शैक्षिक सामग्रियां, वगैरह। परीक्षाएं भी अब आनलाइन हो गयी हैं। प्रबन्धन, इंजीनियरिंग की प्रवेश परीक्षाएं आनलाइन हो गयी हैं। अब आवेदन भी इलेक्ट्रानिक हो गया है। व्यक्ति सीधे संस्था की वेबसाइट पर जाकर लाग-इन तथा पासवर्ड के जरिए जाकर आवेदन फार्म भरकर उसे सबमिट करने के पहले चाहे तो सेव कर ले। जांचने परखने तथा तथ्यों के सही भरे होने की संतुष्टि पर उसे सबमिट कर सकता है। सबमिट करने पर इस बात की पुष्टि हो जाती है कि आवेदन सफलतापूर्वक भरा जा चुका है। इस आशय का ई-मेल आवेदक के मेलबाक्स पर आ जाता है। कभी-कभी परीक्षा का प्रवेशपत्र भी तुरन्त जनरेट हो जाता है जिसे चाहें तो तुरन्त प्रिंट ले सकते हैं या सेव कर सकते हैं। प्रवेशपत्र आवेदक के ई-मेल खाते पर भी प्रेषित हो जाता है। परीक्षा से संबन्धित अनुदेश भी समय पर छात्र को मिल जाते हैं। आनलाइन डेमो-टेस्ट भी छात्र देख सकते हैं कि वास्तव में परीक्षा के दौरान किस तरह से प्रश्नपत्र होंगे तथा उनके उत्तर का तरीका क्या होगा। कुछ संस्थाएं अब ई-सर्टिफिकेट भी प्रदान करना शुरू कर चुकी हैं। इस तरह से अब आने वाले दिनों में शिक्षा में पठन-पाठन से लेकर फॉर्म भरने तथा परीक्षा और प्रमाणपत्र, सभी कुछ इलेक्ट्रॉनिक हो जाने वाला है। विज्ञान की तकनीकों ने शिक्षा को डिजिटल स्वरूप प्रदान कर दिया है।

➢ होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र
टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान
वी. एन. पुरव मार्ग, मानखुर्द
मुम्बई-400088
ई-मेल :kkm@hbcse.tifr.res.in

डोरोथी हॉज़किन : एक अनुकरणीय व्यक्तित्व

▪ प्रो. विजय ए. सिंह

"मुझे क्रिस्टल एवं रसायन विज्ञान ने आजीवन के लिए मोहित कर दिया"।

- डोरोथी हॉज़किन

डोरोथी हॉजकिन (1910-1994)

डोरोथी हॉज़किन ब्रिटेन की बहुआयामी वैज्ञानिक थी। उनका जन्म 12 मई, 1910 को काहिरा, मिस्र में हुआ था। उनके पिता, जॉन विन्टर क्रॉफुट, मिस्र शिक्षा सेवा में काम करते थे। डोरोथी के पिता कई वर्ष मिस्र में रहने के बाद सूडान लौट गए जहां वे बाद में शिक्षा और पुरातत्व दोनों के निदेशक बने। उसी दौरान डोरोथी ने सन् 1923 में सूडान का दौरा किया और उनमें उस देश के लिए एक मजबूत स्नेह विकसित हो गया। वर्ष 1926 में सूडान से अपनी सेवानिवृत्ति के बाद, उनके पिता ने अपना अधिकांश समय पुरातत्व के लिए दिया और साथ ही जेरूसलम में ब्रिटिश स्कूल के निदेशक के रूप में कुछ वर्षों तक काम किया। डोरोथी की माँ, ग्रेस मेरी क्रॉफुट अपने पति के सभी कामों में सक्रिय रूप से शामिल थी।

डोरोथी हॉज़किन की कहानी एक विलक्षण वैज्ञानिक की कहानी है। वह रसायनज्ञ के साथ-साथ भौतिक वैज्ञानिक, जीव वैज्ञानिक और गहन मानवतावादी भी थी। श्री विजयन, अध्यक्ष, भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी ने ठीक उसी वाक्य से डोरोथी की प्रशंसा की है जो कभी आइंस्टाइन ने गांधी जी के बारे में कहा था; "आनेवाली पीढ़ियों के लिए यह यकीन करना मुश्किल होगा कि ऐसी भी किसी शख्सियत का कभी इस धरती पर वजूद रहा होगा।"

डोरोथी को 10 वर्ष की आयु से ही रसायन विज्ञान के लिए जुनून था। साथ ही उनकी माँ ने भी डोरोथी की विज्ञान में रुचि बढ़ायी। यही नहीं, डॉ. ए.एफ. जोसेफ जो कि डोरोथी के माता-पिता के सूडान में

अच्छे मित्र थे, उन्होंने भी डोरोथी को प्रोत्साहित किया। **सर जॉन लेमन स्कूल, बेकक्लेस** (Sir John Leman Grammar School, Beccles), 1921-1928 में डोरोथी ने अपनी स्कूल की पढ़ाई पूरी की, और **गेल्डेस्टन नॉरफॉक** (Geldeston in Norfolk) में अपना सबसे ज्यादा वक्त बहनों के साथ गुजारना पसंद करती थीं। सन् 1928 में स्कूल के कैरियर के अंत में डोरोथी ने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से रसायन शास्त्र में अध्ययन करने का फैसला किया। रसायन शास्त्र की पढ़ाई डोरोथी ने 18 साल की उम्र से सोमरविल कॉलेज, ऑक्सफोर्ड में शुरू की जो कि सिर्फ महिलाओं के प्रशिक्षण के लिए शुरू किया गया था।

डोरोथी ने एक्स-रे क्रिस्टलोग्राफी के क्षेत्र में विशेषज्ञता हासिल करने का फैसला किया जो कि एक नया क्षेत्र था। मैक्स वॉन लाउ, जो एक जर्मन भौतिक वैज्ञानिक थे, ने यह खोज की कि क्रिस्टल के परमाणुओं द्वारा एक्स-रे किरणों को फैलाया जा सकता है जिसके लिए उन्हें 1914 में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया था। ब्रैग को एक साल बाद यह प्रदर्शित करने के लिए नोबेल पुरस्कार मिला कि कोई क्रिस्टल जब एक्स-रे को फोटोग्राफिक प्लेट पर बिखेरता है तो वे क्रिस्टल के भीतर परमाणुओं की व्यवस्था को बिंदुओं के रूप में दर्शाता है।

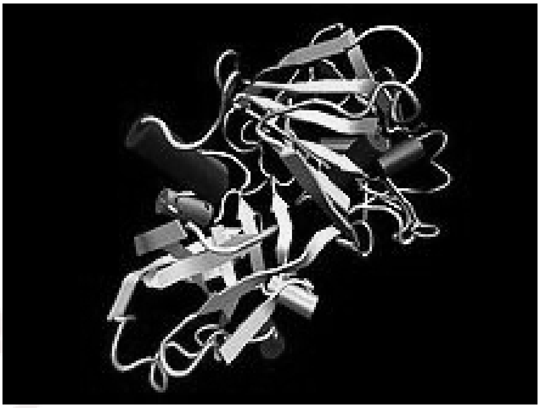

पेप्सिन

डोरोथी ने अपने कैरियर की शुरूआत 1932 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से की। डोरोथी ने अपना शोधकार्य जोसफ बर्नाल के निर्देशन में प्रारंभ किया। बर्नाल न केवल उच्च कोटि के वैज्ञानिक थे, बल्कि दर्शनशास्त्री और अध्येता भी थे। उन्होंने विज्ञान के इतिहास पर भी शोध किया था। बर्नाल की सोच क्रांतिकारी थी। भौतिक विज्ञान न केवल निर्जीव वस्तुओं पर प्रकाश डालता है, बल्कि उसके जरिए हम सजीव प्राणियों की प्रक्रियाओं और रोगों को भी समझ सकते हैं। तीस साल पहले एक्स-रे का आविष्कार रोण्टजेन ने किया था। बर्नाल ने स्वयं अपनी पी-एच.डी विलियम ब्रैग की प्रयोगशाला में की थी। ब्रैग को निर्जीव पदार्थों की

संरचना एक्स-रे द्वारा समझने के लिए नोबेल पुरस्कार दिया गया था। बर्नाल ने सोचा क्यों न हम प्राणियों के अणुओं की संरचना को एक्स-रे द्वारा समझने का प्रयास करें? इसलिए इन अणुओं का क्रिस्टलीकरण आवश्यक था।

क्रिस्टलीकरण क्या है? यह एक क्रिस्टल में परमाणु व्यवस्था को निर्धारित करने की विधि है जिसमें एक्स-रे द्वारा क्रिस्टल पर आघात करने पर वह कई विशिष्ट दिशाओं में विवर्तित हो जाती हैं। उन्होंने एक्स-रे क्रिस्टलोग्राफी की सहायता से प्रोटीन की संरचना निर्धारित करने की क्षमता के बारे में पता लगाया। बर्नाल ने पहली बार यह पता लगाया कि प्रोटीन क्रिस्टल को गीला रखने पर एक्स-रे छवियां निर्मित की जा सकती हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि अगर प्रोटीन सूखा है तो वह टूटकर चूर-चूर हो जाता है और उसका एक्स-रे द्वारा अध्ययन करना कठिन हो जाता है।

सन् 1934 में एक दिन डोरोथी की जिंदगी में दो निर्णायक पल आए। उनमें एक था उज्ज्वल भविष्य का, क्योंकि बर्नाल तथा हॉजकिन एक पाचक एंजाइम पेप्सिन, के एक्स-रे विवर्तन तस्वीर का निर्माण करने में सफल रहे जो उस समय विज्ञान जगत में एक चर्चा का विषय रहा। साथ ही एक दुःखद घटना का क्योंकि, उसी दिन हॉजकिन के हाथों के जोड़ों में दर्द और जकड़न हो गई थी। उनके माता-पिता ने लंदन के एक विशेषज्ञ से परामर्श लिया, तब उन्होंने ने यह बताया कि डोरोथी एक रुमेटी गठिया नामक अत्यंत गंभीर रोग से ग्रसित हैं। उस समय वहाँ इस रोग के लिए कोई प्रभावी उपचार नहीं था।

दिसंबर, 1937 में हॉज़किन ने थॉमस एल हॉज़किन से शादी की। डोरोथी ने तीन बच्चों, ल्यूक (1938 में), एलिजाबेथ (1941 में) और टोबी (1946 में) को जन्म दिया। प्रत्येक गर्भावस्था के दौरान उनके गठिया में नाटकीय रूप से सुधार हुआ। उनके हाथ बाहर की ओर कुछ सीधे हुए और दर्द भी घटता गया। अंत में यह पाया गया कि हार्मोन **कार्टीसोन**, रुमेटी गठिया की सूजन को कम कर देता है।

सन् 1935 में हॉज़किन ने सोमरविल कॉलेज, ऑक्सफोर्ड, में अपनी प्रयोगशाला शुरू कीं और वहाँ एक साल के भीतर उन्होंने इंसुलिन की पहली एक्स-रे छवि तैयार की। डोरोथी ने कोलेस्ट्रॉल(1937), पेनिसिलीन(1945), विटामिन B_{12} (1954), और अंत में 1969 में उन्हें

इन्सुलिन के अणु की संरचना ज्ञात करने में सफलता मिली जिन पर वह लगभग पिछले 30 वर्षों से काम कर रही थीं!

कोलेस्ट्रॉल : हॉज़किन ने अपने पी.एच.डी शोध के लिए एक अधिक जटिल यौगिक, जिसे स्टेरॉल कहा जाता है, कि तरफ कदम बढ़ाया, और जल्दी ही उन्होंने कोलेस्ट्रॉल की संरचना का हल दिया। उन्होंने ने यह पता लगाया कि कोलेस्ट्राल में 74 परमाणु होते हैं, जिसमें 46 परमाणु हाइड्रोजन के,

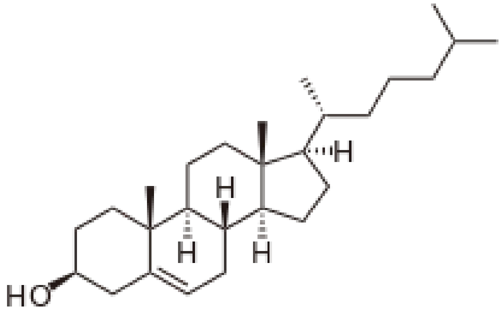

कोलेस्ट्राल

27 परमाणु कार्बन के तथा एक परमाणु ऑक्सीजन का पाया जाता है। कोलेस्ट्राल एक वसा पदार्थ है, जो कि शरीर में कुदरती रूप से होता है। यह शरीर में पाई जाने वाली एक प्रकार की चर्बी होती है, जो शरीर में कई प्रकार की क्रियाकलापों को करने में सहायक होती है जैसे, नई कोशिकाओं के निर्माण, इंसुलिन तथा हार्मोंस के उत्पादन । यह विटामिन और खनिज की तरह ही होता है। शरीर को जितनी मात्रा में कोलेस्ट्रॉल की जरूरत होती है, यकृत उतना ही कोलेस्ट्रॉल का निर्माण करता है। कोलेस्ट्रॉल खून और उससे जुड़े प्रोटीन के माध्यम से शरीर में पहुँचता है। प्रोटीन और लिपिड को संयुक्त रूप से लिपोप्रोटींस कहते हैं। यह प्रोटीन या वसा/लिपिड की मात्रा के अनुपात के मुताबिक उच्च या निम्न घनत्व वाले होते हैं।

पेनिसिलीन : अलेक्ज़ैन्डर फ्लेमिंग ने पेनिसिलीन की खोज की थी। पेनिसिलीन एंटीबायोटिक का एक समूह है जिसकी व्युत्पत्ति पेनिसिलियम कवक से हुई है। सड़े हुए सोयाबीन तथा खरबूज़ों व ब्रेड की फ़फ़ूंदों से पेनिसिलीन प्राप्त

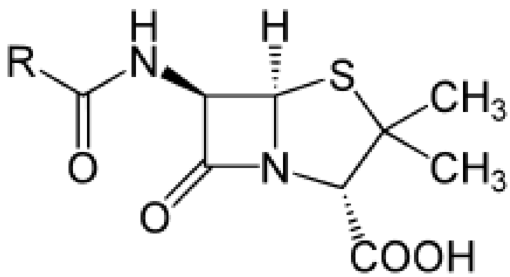

पेनिसिलीन

हुआ। पहली बार एक पुलिसकर्मी को पेनिसिलीन दी गई, वह ठीक होने लगा, किन्तु पेनिसिलीन की कमी की वजह से उसकी मृत्यु हो गई।

"उपचार तो सफल रहा, लेकिन अफसोस! रोगी नहीं बच सका"। दवा की अपर्याप्त आपूर्ति के कारण कुछ मामलों में इलाज समय से पहले बंद कर दिया गया। इसलिए इलाज के लिए पेनिसिलीन का विकास, दोनों संयुक्त राज्य अमेरिका और यूनाइटेड किंगडम में, अधिकारियों के लिए एक शीर्ष प्राथमिकता बन गई थी। वैज्ञानिक अभी भी पेनिसिलीन के एक शुद्ध और सक्रिय रूप के लिए संघर्ष कर रहे थे। जुलाई 1943 में वे उनके सक्रिय संघटको के बारे में पता लगा पाये। परंतु वे पेनिसिलीन की सही संरचना प्राप्त करने में असफल थे। हॉजकिन ने अलग-अलग पेनिसिलीन क्रिस्टल, पेनिसिलीन-G नमक पोटैशियम और रूबीडियम से प्राप्त तीन अलग-अलग विवर्तन पैटर्न की तुलना कर इस संरचना का समाधान किया। उन्होंने यह पता लगाया कि पेनिसिलीन एक पांच पक्षीय थिएजोलिडीन, जो एक बीटा लैक्टम रिंग से जुड़ा होता है, की संरचना बनाता है। पेनिसिलीन एंटीबायोटिक ऐतिहासिक रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे पहली दवाएं हैं जो सिफिलिस एवं स्टेफाइलोकोकस संक्रमण जैसी बहुत-सी गंभीर बीमारियों के विरुद्ध कारगर थीं। पेनिसिलीन आज भी व्यापक रूप से प्रयोग में लाई जा रही हैं हालांकि कई प्रकार के जीवाणु अब इसके प्रतिरोधी बन चुके हैं। पेनिसीलीन पर अपना अनुसंधान पूरा करने पर 1947 में हॉजकिन को रॉयल सोसायटी, ब्रिटेन के अग्रणी वैज्ञानिक संगठन के फैलो के लिए नामित किया गया था। वह 287 साल पुरानी सोसायटी में चुनी गई तीसरी महिला थी।

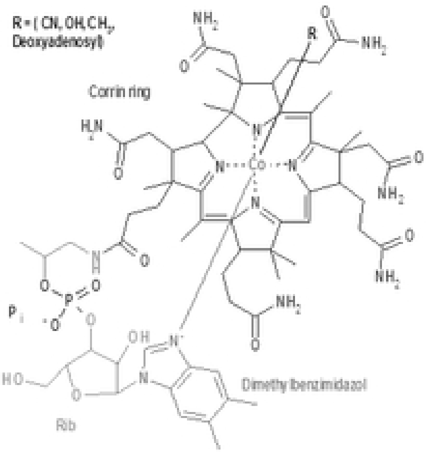

विटामिन B_{12}

विटामिन B_{12} : विटामिन B_{12} को कोबालामीन भी कहा जाता है। यह तंत्रिका और रक्त कोशिकाओं में खून जमने में मदद करता है। यह सामान्यतः मस्तिष्क और तंत्रिका तंत्र के सही काम करने में मदद करता है। यह विटामिन लाल रक्त कोशिकाओं के संश्लेषण के लिए अत्यंत आवश्यक होता है। ऐसे लोग जिन्हें लाल रक्त कोशिकाओं को बनाने के लिए पर्याप्त मात्रा में विटामिन B_{12} नहीं मिल पाता था, वे सांघातिक अरक्तता के कारण मर जाते थे। विटामिन B_{12} की संरचना इतनी जटिल थी कि रसायनज्ञों को इसके बारे में केवल आधी-अधूरी समझ थी। उन्हें इसकी संपूर्ण

संरचना पता करने की जरूरत थी, इससे पहले कि वे थोक में जीवन रक्षक विटामिन B_{12} का निर्माण करने की उम्मीद कर पाते। सन् 1948 से 1956 तक डोरोथी ने भारी परमाणुओं की स्थिति का पता लगाकर विटामिन B_{12} की संरचना निर्धारित करने का काम किया। उन्होंने प्रत्यक्ष पैटरसन तरीकों का उपयोग कर तथा भारी परमाणुओं की स्थिति और चरणों पर आधारित F- गणनाओं का उपयोग कर फिर तीन आयामी फूरियर श्रृंखला की संगणना की। पैटरसन नक्शे का उपयोग करके, लगभग सही इलेक्ट्रॉन घनत्व श्रृंखला ज्ञात करने में वे सक्षम हुई। हॉजकिन ने 1956 में विटामिन B_{12} के संरचनात्मक सूत्र की घोषणा कर दी थी। विटामिन B_{12} का संरचना सूत्र $C_{63}H_{88}N_{14}O_{14}PCo$ है, जिसमें 181 परमाणु हैं। हॉज़किन को 1964 में विटामिन B_{12} की संरचना ज्ञात करने के लिए रसायन शास्त्र के नोबेल पुरस्कार से नवाजा गया।

इन्सुलिन : इन्सुलिन के आविष्कार के पूर्व मधुमेह को एक ऐसा भयावह रोग माना जाता था जो निश्चित रूप से मृत्यु का कारण बनता था। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान मधुमेह से मृत रोगियों का परीक्षण करने पर प्रायः उनके अग्न्याशय (पेंक्रियाज़) को क्षतिग्रस्त पाया गया था। सन् 1869 में एक जर्मन चिकित्सा छात्र, पॉल-लैंगरहैन्स ने देखा कि पाचक रस निकालने वाले अग्न्याशय (पेंक्रियाज़) ऊतकों में कोशिकाओं के समूह थे, जिनका कार्य ज्ञात नहीं था। इनमें से कुछ कोशिकाओं को अंततः इन्सुलिन उत्पन्न करने वाली बीटा कोशिकाओं के तौर पर देखा जाने लगा। बाद में उस व्यक्ति के सम्मान में, जिन्होंने इन कोशिकाओं की खोज की थी, इन कोशिका समूहों को लैंगरहैन्स की द्वीपिका (Islets of Langerhans) नाम दिया गया।

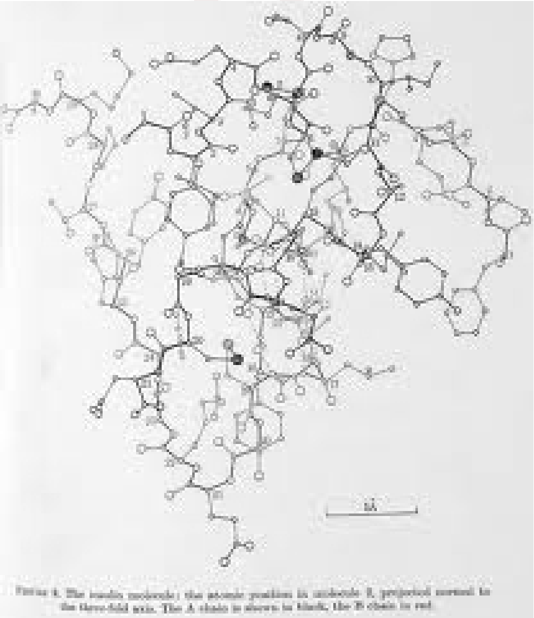

इन्सुलिन

इंसुलिन की खोज सबसे असाधारण अनुसंधान परियोजनाओं में से एक थी। 1926 में एबेल ने बोवाइन इन्सुलिन का क्रिस्टलीकरण किया था। यह सन् 1934 में शुरू हुआ जब रॉबर्ट रॉबिन्सन ने इंसुलिन के क्रिस्टल का एक छोटा-सा नमूना पेश किया था। डोरोथी ने अपनी स्वतंत्र शोध यात्रा के दौरान इन्सुलिन के "एक्स-रे विश्लेषण" को प्रथम विषय के रूप में लिया था। वर्ष 1934 में स्कॉट ने जिंक लवणों तथा अन्य धातुओं की उपस्थिति में क्रिस्टलीकरण की विधि को मानकीकृत किया था। इन्सुलिन क्रिस्टलोग्राफी की प्रारम्भिक अवस्था के दौरान, डोरोथी का अन्तिम मुख्य प्रकाशन 1939 में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् सहलेखक डोरोथी हॉजकिन द्वारा लिखित इन्सुलिन पर अगला क्रिस्टलोग्राफी पेपर 1966 में प्रकाशित हुआ। कई वर्षों के अथक प्रयास के बाद 1969 में इंसुलिन की संरचना तैयार हुई।

बोंटिंग और वेस्ट ने इंसुलिन को पशुओं के अग्न्याशय से संश्लेषित किया। टोरॉन्टो अस्पताल के एक वार्ड में करीब 50 बच्चे डायबटीज़ से ग्रसित, अचेत अवस्था में थे। बोंटिंग और वेस्ट ने उन्हें इंसुलिन का इंजेक्शन देना शुरू किया। जब वे 50वें बच्चे तक पहुँचे तो पहले 8-10 बच्चे सचेत अवस्था में आकर मुस्कुराने लगे। चिकित्सा जगत के इतिहास में यह एक चमत्कार माना जाता है।

इंसुलिन का संरचना सूत्र $C_{256}H_{381}N_{65}O_{79}S_6$ है, जिसमें 700 से भी अधिक परमाणु पाए जाते हैं। उस जमाने में एक्स-रे द्वारा इन परमाणुओं का पता लगाना और उनकी संरचनाओं को समझना उतना ही कठिन था जितना कि यह पूछा जाए कि छप्पन भोग के प्रत्येक व्यंजन में कौन-कौन से तत्व हैं और कितनी मात्रा में है, वह भी केवल स्वाद करने के उपरान्त।

प्राय: कहा जाता है कि डोरोथी दो और नोबेल पुरस्कार से वंचित रह गईं। एक था इंसुलिन की संरचना के लिए जिसमें उन्हें पुरस्कार मिलना चाहिए था। दूसरा वे पुगवॉश की संस्थापक सदस्या थीं और (1976-1988) बारह वर्ष तक वह अध्यक्ष रहीं, लेकिन पुगवॉश को शांति के लिए नोबेल पुरस्कार 1995 में दिया गया। प्रो. हॉज़किन 1970 से अपनी सेवानिवृत्ति (1988) तक ब्रिस्टॉल विश्वविद्यालय की कुलाधिपति रहीं। उन्होंने विश्व शांति के लिए अथक प्रयास किये। उन्होंने हमारे सेहत से जुड़े पदार्थों पेनिसिलीन,

विटामिन B_{12}, इन्सुलिन, कोलेस्ट्रॉल आदि पर अनुसंधान किया। वे कई वैज्ञानिक लेखनों की सूत्रधार भी रही थीं, जिसमें एक्स-रे क्रिस्टलोग्राफी द्वारा अणुओं (पेनिसिलीन, विटामिन B_{12}, इन्सुलिन) की संरचना का विश्लेषण शामिल है। डोरोथी क्रॉफुट हॉज़किन ने जैविक अणुओं के एक्स-रे क्रिस्टलोग्राफी को नये आयाम दिये। वह अपने पी-एच.डी. मार्गदर्शक जोसफ बर्नाल का बहुत आदर करती थीं और उन्हें हमेशा महर्षि (पोप) का दर्जा दिया करती थीं। ज्ञातव्य है कि बर्नाल के तीन विद्यार्थी मैक्स पेरूत्ज, क्लूग और डोरोथी को नोबेल पुरस्कार से नवाजा गया जबकि उनकी एक और शिष्या रोज़लिंड फ्रैंकलिन DNA पर काम करते हुए अकस्मात् मृत्यु के कारण पुरस्कार से वंचित रह गईं।

डोरोथी की उम्र 80 वर्ष से अधिक थी और वह रुमेटी गठिया नामक बीमारी से ग्रस्थ थी। ऐसी अवस्था में भी उनका पूरा ध्यान अमेरिका के संस्थानों पर होने वाले दौरे पर था जिसमें उनको इंसुलिन क्रिस्टलोग्राफी के बारे में दिलचस्पी थी जो कि भविष्य में एक चर्चा का विषय रहे। सन् 1994 में स्ट्रोक की वजह से उनकी मौत हो गई। टाइम्स ऑफ लंदन के अनुसार- इंसुलिन और पेनिसिलीन के योगदान के लिए उन्हें हमेशा याद किया जायेगा।

▪

होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र
टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान
वी. एन. पुरव मार्ग, मानखुर्द
मुम्बई-400088
ई-मेल :vsingh@hbcse.tifr.res.in

HBCSE

विज्ञान पत्रकारिता: विविध आयाम

▪ डॉ. धनंजय चोपड़ा

टेक्नोलॉजी के विविध आयाम

इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक में दो कार्य बहुत तेजी से हुए हैं, पहला है प्रौद्योगिकी का विकास और दूसरा हिन्दी पत्रकारिता का विकास। एक ओर जहाँ जीवन के विविध पहलुओं से जुड़ी टेक्नोलॉजी ने खुद को बिना किसी भेदभाव के सभी नागरिकों के लिए उपलब्ध कराया है वहीं दूसरी ओर हिन्दी पत्रकारिता कास्टिंग के सभी उपक्रमों पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने में सफल हुई है। आज चाहे प्रिंट कास्टिंग सिस्टम हो या टेली कास्टिंग, ब्रॉड कास्टिंग हो या फिर वेब कास्टिंग सिस्टम, सभी पर हिन्दी पत्रकारिता ने स्वयं को नागरिक विस्तार देने में सफलता प्राप्त की है। एक बड़ी बात यह है कि हिन्दी पत्रकारिता की पहुँच बढ़ाने और उसे अधिक जन सरोकारी बनाने में विज्ञान व टेक्नोलॉजी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। समाचारों के एकत्र करने उसे लिखने, सम्प्रेषित करने, प्रस्तुत करने में आए बदलाव ने जहाँ हमारे समाचार पत्रों को नया रंग-रूप दिया है, वहीं फोटोग्राफी-वीडियोग्राफी व इनसे जुड़ी सम्पादन प्रक्रिया ने भी नित नए आयामों को प्राप्त करके पत्रकारिता का एक आधुनिक संसार रचने में भूमिका निभाई है। वास्तविकता यह है कि विज्ञान व टेक्नोलॉजी का सहारा लेकर पत्रकारिता ने स्वयं को नागरिकों के अधिक करीब ले जाने का और उनसे जुड़ने का काम किया है, लेकिन एक सच यह भी है कि पत्रकारिता ने बदले में विज्ञान व टेक्नोलॉजी को जन जन तक पहुँचाने और उनके हर पक्ष से सहजता व सार्थकता के साथ उन्हें परिचित कराने में लगातार चूक की है। सच तो यह है कि हिन्दी में विज्ञान पत्रकारिता का विकास व विस्तार जिस तेजी की माँग करता रहा है, उसे पूरा कर पाने में पत्रकारिता से जुड़ी संस्थाएँ, संगठन व लोग असमर्थ रहे हैं। ज़रूरत इस बात की है कि हम विज्ञान पत्रकारिता को अधिक लोकप्रिय बनाने व अधिक से अधिक पत्रकारों को उससे जोड़ने का प्रयास ओर अधिक मजबूती के साथ करें।

HBCSE

विज्ञान पत्रकारिता

पत्रकारिता एक प्रकार का मानसिक अनुशासन है जिसका उद्देश्य अपने पाठकों, श्रोताओं व दर्शकों की मानसिक तरंगदैर्ध्य के अनुरूप ऐसा कथ्य तैयार करना व उसे प्रस्तुत करना होता है जो सहजता एवं सार्थकता के साथ उन तक सम्प्रेषित हो सके। पत्रकारिता की यही परिभाषा विज्ञान पत्रकारिता के लिए भी फिट बैठती है। हाँ, यह बात अलग है कि विज्ञान पत्रकार को अधिक जिम्मेदारी के साथ पत्रकारिता के उद्देश्यों की पूर्ति करनी पड़ती है। वास्तव में विज्ञान पत्रकारिता के माध्यम से वैज्ञानिक जानकारियों, नई खोजों व उनसे जुड़े जन हित को लोगों तक सहजता व सरलता के साथ पहुँचाना ही मुख्य उद्देश्य होता है ताकि सामान्य जन भूख, बीमारी, प्राकृतिक आपदा, अंधविश्वास से जूझ सके तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों के सहारे अपने जीवन को अधिक सुगम व सुखमय बना सके। किसी भी देश का सामाजिक विकास वहाँ की वैज्ञानिक उपलब्धियों के साथ साथ वहाँ की जागरूक जनता पर भी निर्भर करता है। यही वजह है कि विज्ञान पत्रकारिता को समाज को सामाजिक विकास की ज़रूरत के रूप में देखा जाता है। वास्तविकता तो यह है कि पत्रकारिता, विज्ञान और समाज का आपस में पारस्परिक सम्बन्ध है। ये तीनों एक दूसरे के पूरक हो गए हैं। हमारा अपना समय व समाज इन्हीं के पारस्परिक सम्बंधों की गुणवत्ता व जीवंतता पर टिका हुआ है।

विज्ञान पत्रकारिता के विविध आयाम :

पत्रकारिता के विकास एवं विस्तार ने न केवल स्वयं विभिन्न आयाम प्राप्त किए, बल्कि अपने विषयगत प्रकारों को भी उनसे लैस कर दिया। यही वजह है कि विज्ञान पत्रकारिता में समाचार, फीचर (शब्द व फोटो), लेख, स्तम्भ, साक्षात्कार के साथ-साथ विज्ञान साहित्य का वैविध्य भी जुड़ गया है, जिसमें विज्ञान कथा, विज्ञान गल्प, विज्ञान गीत, कविता, विज्ञान नाटक, विज्ञान डायरी आदि शामिल हैं।

विज्ञान समाचार

विज्ञान समाचार सर्वाधिक महत्वपूर्ण आयाम हैं। वास्तव में इनकी गुणवत्ता, सहजता एवं गतिशीलता पर ही आमजन की जागरूकता निर्भर करती है। नया जानने की इच्छा हर व्यक्ति में होती है और विज्ञान समाचार इस इच्छा की पूर्ति बड़ी ही सरलता से कर देते हैं। एक प्रश्न प्रायः हमारे सामने आता है कि विज्ञान समाचार किन्हें कहा जाए? वास्तव में विज्ञान समाचार, विज्ञान व टेक्नोलॉजी में हुए नए अनुसंधानों विकास,घटनाओं, दुर्घटनाओं, किसी वैज्ञानिक के नए शोध, उसकी उपलब्धियों, जनहित व जागरूकता से जुड़ा वैज्ञानिक तथ्य, विज्ञान से जुड़ी गतिविधियों की

जानकारी आदि से जुड़े व संदर्भित होते हैं। विज्ञान समाचारों की प्रस्तुति भी सामान्य समाचारों या अन्य विषयगत समाचारों से कुछ भिन्न होती है। विज्ञान समाचारों को लिखते समय इस बात का पूरा ध्यान रखना पड़ता है कि विज्ञान को एक ऐसे पाठक या दर्शक या श्रोता वर्ग के समक्ष प्रस्तुत करना है, जिसमें विज्ञान की समझ रखने वाले और ना रखने वाले, दोनों शामिल हैं। सच तो यह है कि विज्ञान को न समझने वालों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक होती है। ऐसे में विज्ञान समाचार की ओर पाठक-दर्शक-श्रोता को आकर्षित करना किसी चुनौती से कम नहीं होता।

'विज्ञान फीचर' लेखन

विज्ञान फीचर लेखन, विज्ञान पत्रकारिता का दूसरा महत्वपूर्ण आयाम है। विज्ञान से जुड़े रोचक व रोमांचक तथ्यों व साक्ष्यों को उतनी ही रोचकता व रोमांचकता के साथ प्रस्तुत करके विज्ञान फीचर तैयार किए जाते हैं। विज्ञान में शब्द फीचर व फोटो फीचर, दोनों के लिखे जाने की संभावनाएँ हैं और ऐसे फीचर लिखे भी जा रहे हैं, प्रकाशित भी हो रहे हैं। उदाहरण के लिए पिछले दिनों अमेरिकी वैज्ञानिक ऐलेन कोनी के एक शोध परिणाम पर फीचर प्रकाशित हुआ 'चाय की चाहत, कैंसर से राहत'। यह फीचर बहुत लोकप्रिय तथा चर्चित हुआ। इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में जिस मीडिया टूल ने सर्वाधिक तकनीकी विकास किया है, वह कैमरा है। कैमरे में हुए इस विकास ने संचार शास्त्रियों को यह कहने पर मजबूर किया है कि हमारा समय विज़ुअल एक्सप्लोज़न का है। विज्ञान पत्रकारिता इस विज़ुअल एक्सप्लोज़न से अछूती नहीं रही है। एक से बढ़कर एक विज्ञान फोटो फीचर देखने को मिल रहे हैं। हाँ, इनकी संख्या व बारम्बारता कम हैं क्योंकि हम विज्ञान फोटोग्राफी को लोकप्रिय बनाने में उतने सफल नहीं हुए हैं, जितनी अपेक्षा थी।

विज्ञान फीचर

विज्ञान आलेख

विज्ञान आलेख अपने विषय वैविध्य के कारण विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में मुकम्मल स्थान बना ही लेते हैं। इन दिनों समाचार पत्रों के सम्पादकीय पृष्ठों व साप्ताहिक पुल आउट में विज्ञान विशेष आलेखों की बारम्बारता

बढ़ी है। विज्ञान आवरण कथाओं के रूप में भी विशेष आलेख प्रकाशित किए जा रहे हैं। इन आलेखों में शुद्ध रूप से वैज्ञानिक आलेखों के साथ साथ विषयगत विज्ञान आलेख, विचारपरक विज्ञान आलेख, खोजपूर्ण आलेख व शोधपरक विज्ञान आलेख शामिल हैं।

विज्ञान पत्रकारिता का रोचक व लोकप्रिय आयाम वैज्ञानिकों का साक्षात्कार होता है। वास्तव में वैज्ञानिकों का साक्षात्कार विज्ञान की बारीकियों, उनकी उपलब्धियों सामान्य जन के लिए विज्ञान की उपादेयता तथा नई रोमांचक खोज की प्रमाणिक प्रस्तुति होती हैं। प्रायः वैज्ञानिकों के साक्षात्कार अधिक पढ़े जाते हैं। यही वजह है कि वैज्ञानिकों से हुई बातचीत को विविधता के साथ प्रस्तुत करना एक चुनौती होती है। कई बार यह भी देखा गया है कि विज्ञान पत्रकारिता के इस महत्वपूर्ण आयाम की ज़रूरत साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए पड़ती है। वैज्ञानिकों के साक्षात्कारों से कई-कई रोचक रोमांचक समाचार भी निकलते हैं। मैनें कई बार पाया है साक्षात्कारों से निकले समाचार अधिक लोकप्रिय हुए। सम्पादकों ने भी उन्हें पत्र-पत्रिकाओं में प्रमुखता से स्थान दिया।

विज्ञान आलेख

HBCSE

तकनीकी लेखन

तकनीकी लेखन, विज्ञान पत्रकारिता के भीतर विकसित होता एक नया आयाम है। एक तकनीकी लेखन को सामान्य पाठक के लिए ऐसी रिपोर्ट तैयार करनी पड़ती है, जो कोई भी तकनीकी रूप से अभिमुखी प्रोफेशनल या एक्सपर्ट अपने नियमित कार्य के रूप में करता है। जैसे-जैसे हमारा बाज़ार तकनीकी आधारित होता जा रहा है, वैसे-वैसे तकनीकी लेखन के क्षेत्र का विस्तार होता जा रहा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने तो अपने उत्पाद को हिन्दी क्षेत्र में प्रचलित करने के लिए तकनीकी लेखकों की

तकनीकी लेखन

नियमित नियुक्ति कर रखी है। विज्ञापन के क्षेत्र में इन तकनीकी लेखकों की मांग भी इसी आधार पर बढ़ी है। चिकित्सा, इंजीनियरिंग व डिज़ाइनिंग के क्षेत्र में तकनीकी लेखन के बिना काम ही नहीं चल रहा।

विज्ञान पत्रकारिता में तकनीकी लेखन का आयाम जुड़ने के साथ ही अनुवाद कर्म का महत्व भी बढ़ा है। पत्रकारिता का चरित्र वैश्विक होने के साथ ही अनुवाद का महत्व बढ़ा है। ऐसे अनुवादकों की आवश्यकता बढ़ी है, जो विज्ञान समाचारों, आलेखों, नई-नई खोजों, शोध पत्रों व अन्य आयामों का हिन्दी में अनुवाद कर सकें। अनुवाद कर्म से जुड़े लोगों के समक्ष यह चुनौती होती है कि वे सिर्फ अनुवादक की तरह काम न करके विज्ञान पत्रकार व विज्ञान लेखक की तरह भी कार्य करें और सामान्य जन को सम्प्रेषित हो जाने वाला कथ्य यानि कंटेन्ट तैयार करें। विज्ञान पत्रकारिता से जुड़े कुछ संस्थानों ने इस ज़रूरत को पूरा करने के लिए विशेष प्रशिक्षण देना प्रारम्भ कर दिया है।

विज्ञान पत्रकारिता का वर्तमान

विज्ञान पत्रकारिता का वर्तमान

यद्यपि कई महत्वपूर्ण विज्ञान पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, समाचार पत्रों में विज्ञान समाचारों व आलेखों को यथोचित स्थान मिल रहे हैं, टेलिविज़न पर भी विज्ञान समाचार स्थान पाने लगे हैं, विज्ञान आधारित टी.वी. व रेडियो कार्यक्रम लोकप्रिय हो रहे हैं। फिर भी अभी उस तरह की स्थिति नहीं बन पाई है जिसकी अपेक्षा विज्ञान पत्रकारिता के संदर्भ में है। अभी भी यह कहा जाता है कि विज्ञान समाचार या अन्य प्रस्तुतियाँ अधिकाँश पाठकों या दर्शकों को रुचिकर नहीं लगतीं। यही वजह है कि विज्ञान पत्रकारिता से जुड़े लोग जिस पाठक व दर्शक वर्ग को तैयार करना चाहते हैं, वह तैयार नहीं कर पा रहे हैं।

हाल ही में सेन्टर आफ मीडिया स्टडीज़, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के द्वारा किए गए पाठक-दर्शक सर्वेक्षण में यह बात सामने आई है कि 56% पाठक व लगभग इतने ही दर्शक विज्ञान समाचारों को पढ़ते व देखते हैं। यदि ऐसा है तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि विज्ञान समाचार या विज्ञान पत्रकारिता के अन्य विधागत रूप लोकप्रियता हासिल नहीं कर पाते। बच्चों में यह लोकप्रियता कुछ अधिक ही है, जिसका लाभ

मीडिया संस्थानों को उठाना चाहिए। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि इक्कीसवीं सदी के इस पहले दशक की समाप्ति पर विज्ञान पत्रकारिता के विविध आयाम अपना अस्तित्व बनाते नज़र आने लगे हैं।

भविष्य की संभावनाएँ

यह तो तय है कि आने वाला समय विज्ञान व तकनीकी विकास के नित नए आयाम हमारे सामने लाएगा तथा सामान्य जन-जीवन की विज्ञान व तकनीकी पर निर्भरता भी बढ़ेगी और इसी के साथ लोगों में इनसे जुड़ने, इन्हें जानने और इनके विविध रूपों का प्रयोग करने की ललक भी बढ़ेगी। जाहिर है कि यह 'विकास', 'निर्भरता' और 'ललक' विज्ञान पत्रकारिता को लगातार महत्वपूर्ण बनाने का प्रयास करेगी। ऐसे में यह कहा जा सकता है कि विज्ञान पत्रकारिता में भविष्य की संभावनाओं का वैविध्य छिपा हुआ है। एक बड़ी बात यह कि शिक्षण प्रशिक्षण से जुड़ी संस्थाओं ने इस संभावना भरी विधा में लोगों को प्रशिक्षित करना प्रारम्भ कर दिया है। हिन्दी में विज्ञान के लोकप्रियकरण के लिए जुटी संस्थाओं, राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद, विज्ञान प्रसार, विज्ञान परिषद सहित कई विश्वविद्यालयों ने इस दिशा में सार्थक कदम उठाए हैं। सरकार की तरफ से भी विज्ञान पत्रकारिता में पुरस्कार देकर प्रोत्साहन दिया जा रहा है। विज्ञान पत्रकारों की तैयार हो रही टीम भी इस बात का आभास करा रही है कि आने वाला समय विज्ञान पत्रकारिता के लिए अधिक सार्थक होगा ।

अंत में एक बात और। मीडिया की पढ़ाई अब उच्च शिक्षा से होते हुए माध्यमिक शिक्षा में प्रवेश कर गई है। पहले हम पत्रकारिता के स्नातक, परास्नातक तैयार करते थे। अब यह ग्यारहवीं-बारहवीं कक्षा में भी विषय के रूप में शामिल कर लिया गया है। पत्रकारिता पर अध्ययन करने वाले अधिकांश माध्यमिक स्तर के छात्र विज्ञान विषय को पढ़ने वाले या इसकी बेहतर समझ रखने वाले हैं। ऐसी स्थिति में यदि विज्ञान पत्रकारिता के शिक्षण-प्रशिक्षण की मानक पहल की जाए तो भविष्य और भी उज्ज्वल व सुनहरा होगा।

➢ डॉ. धनंजय चोपड़ा
पाठ्यक्रम समन्वयक
सेन्टर आफ मीडिया स्टडीज़
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद-211002
ई-मेल dhananjai_c@rediffmail.com

ऊर्जा का नवीकरणीय एवं अक्षय स्रोत- बायोमास

▪ डॉ. दिनेश मणि

किसी भी राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक तथा औद्योगिक विकास के लिए ऊर्जा एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है। तीव्र औद्योगिकीकरण, जनसंख्या वृद्धि एवं भौतिकवाद के परिणामस्वरूप ऊर्जा के उपभोग में वृद्धि हुई है। कोयला, तेल, पेट्रोलियम उत्पाद ऊर्जा-प्राप्ति के अब तक परम्परागत साधन रहे हैं किन्तु पृथ्वी पर इनका भंडार अत्यंत सीमित है। अतः ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों का पता लगाना एवं उनका विकास करना अब आवश्यक हो गया है।

वैज्ञानिकों तथा प्रौद्योगिकीविदों द्वारा देश के ऊर्जा परिदृश्य का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि हमारे देश की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में विकास का प्रकाशसंश्लेषण मॉडल अपनाना अधिक उपयुक्त है। यह ऊर्जा का प्राचीन और विश्वसनीय स्रोत है जिसका नवीनीकरण हो जाता है। अब यह सभी विकासशील देशों के अपनाने योग्य भी है। विकास के लिए इस विकल्प का चुनाव कर लेने से ऊर्जा की आवश्यकता पूरी होने के साथ-साथ मनुष्य और उसके पर्यावरण में फिर से संतुलन स्थापित करने में सहायता मिलेगी।

ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोत के रूप में बायोमास को एक महत्वपूर्ण और आशाप्रद विकल्प माना जा रहा है किन्तु चीनी, प्राकृतिक और संश्लिष्ट रेशे, लकड़ी,काष्ठ रसायन, संश्लिष्ट रसायन और ईंधन (मीथेनॉल, मीथेन, ईथेन, गैसोलीन) इत्यादि प्राप्त करने के लिए पेड़ का सम्पूर्ण उपयोग कर पाना अभी तक संभव नहीं हो पाया है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रौद्योगिकी सन् 2025 तक विकसित हो जाएगी, ऐसा अनुमान है। बायोमास के उपयोग और परिर्वतन के लिए ही नहीं अपितु इसके उत्पादन के लिए भी क्रान्तिकारी अनुसंधान और विकास की आवश्यकता है। बायोमास के उत्पादन के लिए प्रकाशसंश्लेषण प्रक्रिया की दक्षता बढ़ाना जरूरी है।

बायोमास क्या है?

समस्त जीवधारियों से प्राप्त होने वाले अपशिष्टों और उनके मृतप्राय हिस्सों को जैव-पदार्थ (बायोमास) कहा जाता है। बायोमास के अन्तर्गत मनुष्यों एवं पशु-पक्षियों के मल-मूत्र, गोबर, कृषि-बागवानी की फसलों/पेड़-पौधों

के अवशेष और वृक्षों की टहनियाँ, सूखी पत्तियाँ एवं अन्य अवशेष, नष्ट हुए फल-फूल, शाक-सब्जियाँ आदि कार्बनिक अपशिष्टों के अतिरिक्त सूक्ष्मजीवों-सहित समस्त प्राणियों के मृत शरीर भी आते हैं। बायोमास में ऊर्जा का प्रचुर स्रोत निहित है। सभी प्रकार के बायोमास किसी न किसी ईंधन के रूप में प्रयोग किए जा सकते हैं। ये मुख्यतः कार्बोहाइड्रेट यौगिकों से बने होते हैं, जो वनस्पति अथवा प्राणी रूप में होते हैं।

प्रकाश-संश्लेषण द्वारा सूर्य के प्रकाश की सहायता से बायोमास में शर्करा, स्टार्च तथा लिग्नोसेलुलोज़ के निर्माण का बुनियादी महत्व है। रासायनिक भाषा में कहा जाए तो प्रकाश-संश्लेषण एक प्रकाश-ऊर्जित ऑक्सीकरण-अवकरण प्रक्रिया है। पौधों द्वारा प्रकाश-संश्लेषण की प्रक्रिया में प्रकाश-ऊर्जा जल के ऑक्सीकरण, ऑक्सीजन गैस, ऊर्जा हाइड्रोजन आयन तथा इलेक्ट्रॉन उत्पन्न करने में प्रयुक्त होती है। अधिकांश निकले हुए इलेक्ट्रॉन तथा हाइड्रोजन आयन अन्ततः कार्बन डाईआक्साइड में परिवर्तित हो जाते है जो कार्बनिक उत्पादों में अवकृत हो जाते हैं। अन्य इलेक्ट्रॉन तथा हाइड्रोजन आयन नाइट्रेट तथा सल्फेट को अमीनो तथा अमीनो अम्ल के सल्फहाइड्रिल समूहों को अवकृत करने में प्रयुक्त होते हैं जो प्रोटीन के निर्माण के लिए उत्तरदायी हैं। अधिकांश हरित कोशिकाओं में, कार्बोहाइड्रेट- विशेष रूप से स्टार्च तथा शर्करा (सुक्रोज़)- प्रकाश-संश्लेषण के प्रमुख कार्बनिक उत्पाद हैं। इसे निम्नलिखित समीकरण द्वारा दर्शाया जा सकता है-

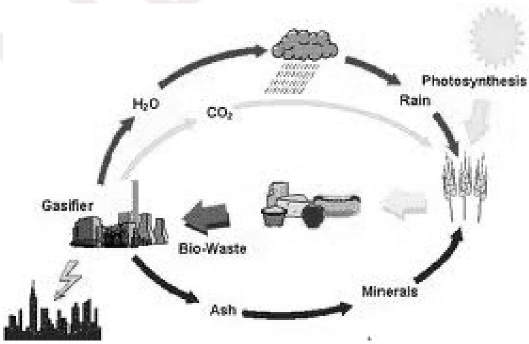

बायोमास

प्रकाश

$$CO_2 + 2H_2O \text{ -------------> } CH_2O + O_2 + H_2O$$

हरे पौधे

जीव विज्ञान के दृष्टिकोण से बायोमास स्रोतों को दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

1. पार्थिव बायोमास (जैव-अवशेष तथा उच्च वर्ग के पौधे)
2. जलीय बायोमास (सादे पानी के जलीय पौधे, समुद्री घास-पात, सूक्ष्म शैवाल तथा उसी परिवार के अन्य पौधे पानी में तैरने वाले समुद्री पौधे और खारे जल में पनपने वाले पौधों की प्रजातियाँ)।

इस प्रकार बायोमास शब्द एक व्यापक अर्थ से युक्त है जिसमें विभिन्न प्रकार के वे सभी पदार्थ शामिल हैं जो जीववैज्ञानिक क्रियाशीलता से प्राप्त होते हैं और जो या तो भूमि की सतह पर पाए जाते हैं या झीलों, नदियों या सागरों के विशाल क्षेत्र की जलराशि में विभिन्न गहराइयों पर पाए जाते हैं।

प्रकाश-संश्लेषण सभी खाद्य-श्रृंखलाओं का आधार है और इससे जीवन रक्षक ऑक्सीजन भी प्राप्त होती है। सजीव विश्व की यह अत्यंत महत्वपूर्ण प्रक्रिया है और पृथ्वी पर जीवन को बनाए रखने के लिए इसका यह महत्व सदा बना रहेगा। बायोमास स्वच्छ और नवीकरणीय, योग्य ऊर्जा-स्रोत है तथा विकल्प के रूप में अत्यंत वांछनीय भी है। इसलिए स्थलीय और जलीय बायोमास पर विचार करना किसी भी ऊर्जा विकास कार्यक्रम में, और वह भी विशेष रूप से भारत जैसे देश के लिए बहुत लाभप्रद है।

बायोमास से ऊर्जा

प्रत्येक वृक्ष या पौधा स्वयं में एक छोटा बिजलीघर है। पेड़-पौधे, सौर-ऊर्जा के रूपांतरण और संचय के प्राकृतिक माध्यम है। वानस्पतिक विकल्प की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसका पुनर्नवीकरण है। जब तक पृथ्वी पर सौर-विकिरण प्राप्त होता रहेगा और वनस्पतियों के उगने योग्य परिस्थितियां बनी रहेंगी, उनकी एक के बाद दूसरी पीढ़ी के माध्यम से निरन्तर सौर-ऊर्जा का दोहन किया जा सकेगा। हम आज जिन जीवाश्म ईंधनों का उपयोग कर रहे है वे पौधों द्वारा संचित सौर-ऊर्जा का भौतिक-रासायनिक तथा जैविक कारकों द्वारा लाखों करोड़ों वर्षों में

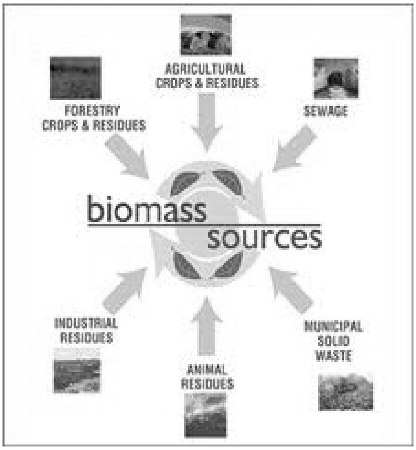

बायोमास ऊर्जा

रूपान्तरण रूप ही हैं। इसलिए इनके तेजी से समाप्त होते हुए भंडारों को देखते हुए वैज्ञानिक यह विचार कर रहे हैं कि लाखों-करोड़ों वर्षों के इस समयांतर को समाप्त करके जीवित वृक्षों से ही क्यों न वांछित पदार्थों के रूप में ऊर्जा प्राप्त करने का प्रयास किया जाए।

बायोमास से ऊर्जा प्राप्त करने के तंत्रों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है।

1. बायोमास के दहन द्वारा ऊष्मा अथवा विद्युत का उत्पादन
2. बायोमास का पशुचारे के रूप में प्रयोग-तदुपरान्त पशु ऊर्जा का उपयोग
3. बायोमास का उच्च ऊर्जायुक्त अणुओं में स्थानांतरण। बायोमास से ऊर्जा प्राप्त करने का सरलतम एवं सस्ता माध्यम उनका दहन है। विकसित एवं विकासशील सभी देशों में दहन द्वारा बायोमास से ऊर्जा प्राप्त की जाती है। बायोमास को और अधिक अच्छे ईंधन में भी बदला जा सकता है जैसे इथेनॉल या हरित गैसोलीन तथा बायोगैस।

आजकल यह अनुभव किया जा रहा है कि अनाज, सब्जी, फलों आदि की खेती की तरह ही बायोमास की खेती की जा जाए। इसीलिए कभी-कभी ''ऊर्जा की खेती'' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ऐसे पौधे जिनमें अधिक ऊर्जा देने की क्षमता है, उनमें गन्ना, जेट्रोफा, ज्वार, यूफोर्बिया, कसावा, सोयाबीन, सूरजमुखी, जलकुम्भी तथा अन्य जलीय पौधे प्रमुख है।

जेट्रोफा

जेट्रोफा

जेट्रोफा तेल

कृषि प्रधान देश होने के कारण हमारे यहाँ बायोमास से ऊर्जा प्राप्त करने की प्रबल संभावनाएं हैं। इसी दिशा में एक सार्थक कदम है

जेट्रोफा से बायोडीजल का उत्पादन। जेट्रोफा (वानस्पतिक नाम, जेट्रोफा करकस) एक ऐसा पौधा है जो पानी की कमी में भी उग सकता है। इसका उत्पादक जीवन लगभग 40 वर्ष तक होता है लेकिन यह परिपक्व होने में 2 से 3 वर्ष का समय लेता है। इसका उत्पादन 3000 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर तक प्राप्त किया जा सकता है। जेट्रोफा करकस यूफोर्बिएसी कुल का एक महत्वपूर्ण पौधा है। इसके बीज में लगभग 45 प्रतिशत तक तेल पाया जाता है।

जेट्रोफा के तेल को सीधे डीजल इंजन में उपयोग करना इंजन की सेहत के लिए उचित नहीं है। अतः इसको उपयोग से पूर्व एक प्रक्रिया से गुजारा जाता है जिसे ट्रांसएस्ट्रिफिकेशन कहते हैं। इस प्रक्रिया में पहले मीथेनोल और सोडियम हाइड्रॉक्साइड को मिलाया जाता है। फिर उसमें अरण्ड का तेल डालकर कुछ घण्टों तक हिलाया जाता है। मिश्रण का घनत्व स्थिर करने के लिए 8-10 घण्टों तक रख दिया जाता है। इतनी प्रक्रिया के बाद ग्लिसरीन नीचे बैठ जाएगी और बायोडीजल ऊपर आ जायेगा, तब दोनों को अलग-अलग कर लिया जाता है। इंजन में उपयोग करने से पहले बायोडीजल को गर्म करके उससे पानी उड़ा दिया जाता है। मिश्रण में मिलाये गये व प्राप्त अवयवों का अनुपात इस प्रकार होता है-

100 किलोग्राम अरण्ड तेल + 24 किलोग्राम मीथेनॉल + 2.50 किलो ग्राम सोडियम हाइड्रॉक्साइड = 100 किलोग्राम बायोडीजल + 26 किलोग्राम ग्लिसरीन

बायोडीजल इंजन

प्रचुर मात्रा में हाइड्रोकार्बन संचित करने वाले पौधों की दृष्टि से वनस्पति जगत का यूफोर्बिएसी कुल सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। लगभग चार हजार प्रजातियों वाले इस विशाल कुल की कोई न कोई प्रजाति आर्कटिक प्रदेश के अतिरिक्त विश्व के प्रत्येक भाग में पाई जाती है। वैसे अधिकांश

HBCSE

प्रजातियां विश्व के उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में ही केंद्रित हैं। इस कुल के पौधे शाक, झाड़ी या वृक्ष किसी भी रूप में पाए जा सकते हैं। परन्तु इन सबकी एक विशेषता यह है कि इनके ऊतकों में एक विशेष प्रकार का दूधिया द्रव संचित होता है। यही दूधिया द्रव हाइड्रोकार्बनों का स्रोत है। ग्वायूल और यूफोर्बिया जैसे हाइड्रोकार्बन युक्त पौधे सहिष्णु होते हैं और भारत के लिए महत्वपूर्ण हैं। इन्हें शुष्क क्षेत्रों में उगाया जा सकता है।

शैवाल हाइड्रोकार्बनों के आशाजनक स्रोत हैं। उत्प्रेरक हाइड्रोजनीकरण द्वारा इनके उत्पादन और संसाधन पर ध्यान देने की आवश्यकता है। समुद्री बायोमास के क्षेत्र में अभी बहुत संभावनाएं हैं। सभी नई और ध्यानाकर्षित करने वाली ऊर्जा फसलों की खेती करने तथा उनका आनुवांशिक सुधार किए जाने की आवश्यकता है। ये इस समय अपने आप उगते हैं और प्रति इकाई क्षेत्र में और प्रति इकाई समय में कम उत्पादन देते हैं। विज्ञान और प्रौद्योगकी की सहायता से अधिक उत्पादन किया जाना संभव है। स्मरण रहे, बायोमास ऊर्जा का क्षेत्र अतिव्यापक है जिसके लिए वनस्पति विज्ञान, पादप रसायन, सूक्ष्म जीव विज्ञान, कृषि, ईंधन, ऊष्मा, भौतिकी तथा इंजीनियरी की अलग-अलग शाखाओं में विभिन्न पौधों पर ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों के रूप में अनुसंधान और विकास कार्य किये जाने की आवश्यकता है।

उपयोगी सारणियां

सारणी-1 प्रमुख ईंधनों के उष्मीय मान

ईंधन	ऊष्मीय मान (कि.जू./ग्रा.
गोबर के उपले	6-8
रद्दी कागज	15-18
जलावनी लकड़ी	16-20
कोयला	30
चारकोल	33
डीजल	45
मिट्टी का तेल	48
प्रोड्यूसर गैस	6-9
कोल गैस	17
बायो गैस	20-35

नेचुरल गैस	33-50
पेट्रोल गैस	50
ब्यूटेन गैस (एलपीजी)	50
मीथेन (शुद्ध)	55

1 जूल = 0.23905 कैलोरी

1 किलो जूल/ग्राम = 239.05 किलो कैलोरी/कि.ग्रा.

सारणी-2 गैर-जीवाश्मीय स्रोतों से प्राप्त शक्ति

स्रोत	**सतत आधार पर उपलब्ध शक्ति (मेगावाट)**
प्रकाश संश्लेषण	10^7
समुद्री ऊष्मा कुल	10^7
उपलब्ध पवनशक्ति	10^6
जलशक्ति	10^5
कुल पवन शक्ति	10^{14}
ज्वारीय शक्ति	13×10^3
भू-तापीय शक्ति	60×10^3

सारणी-3 सूखी लिग्नीय पदार्थ की एक किलोग्राम मात्रा से बिजली का उत्पादन

युक्ति	बिजली (किलोवाट घण्टों में)
गैसीफायर तथा रेसिप्रोकेटिंग इंजन	1.3
गैसीफायर तथा गैस टर्बाइन	0.9
बायलर तथा गैस टर्बाइन	0.9
मीथेन संश्लेषण तथा रेसिप्रोकेटिंग इंजन	1.1
मीथेन किण्वन तथा रेसिप्रोकेटिंग इंजन	0.45

सारणी-4 मीथेन किण्वन से प्राप्त पदार्थ

कार्बनिक पदार्थ	CO_2 (%)	CH_4 (%)
कार्बोहाइड्रेट	50	50
वसा अम्ल (1)लघु आण्विकभार	38	62

(2)उच्च आण्विक भार	38	72
प्रोटीन	24-31	76-79

महत्वपूर्ण बिन्दु

बायोमास के संदर्भ में वर्तमान में जिन बातों पर तात्कालिक अनुसंधान करने की आवश्यकता है, वे इस प्रकार हैं-

1. व्यापक आनुवांशिकी विविधता और सीमान्त या अल्पपोषी मृदाओं के अनुकूल वृक्षों/झाड़ियों की प्रजातियों का चुनाव। ये चुनी हुई प्रजातियां सहिष्णु होनी चाहिए और इनकी जल, खाद/उर्वरक और सुरक्षा उपायों की आवश्यकता कम होनी चाहिए।
2. ऐसी प्रजातियां चुनी जाएं जिनके विविध उपयोग हो सकें जैसे ईंधन, चारा, उर्वरक और रेशा। इनमें पुनर्जनन की उच्च संभावना होनी चाहिए।
3. प्रजातियों में नाइट्रोजन यौगिकीकरण की क्षमता का होना अधिक अच्छा होगा। इसके साथ ही अल्प पोषक तत्वों वाली मृदाओं के लिए जैव-उर्वरण की और विधियों को भी अपनाना होगा।
4. उपयुक्त चारा फसलें और घासों के साथ अलग-अलग प्रजातियों और विशिष्ट आवास क्षेत्रों के लिए कृषि क्रियाओं की प्रौद्योगिकी का एकीकरण।
5. सर्वोत्कृष्ट कलोनों का माँग के अनुसार अल्प काल में बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए ऊतक संवर्ध तकनीक का मानकीकरण।
6. हमें इन प्रौद्योगिकियों का भरपूर इस्तेमाल करने की आवश्यकता है। स्थानानुसार अनुकूल परीक्षणों और प्रजनन कार्यक्रम में लाने के लिए सभी सार्थक जातियों और उनके विभेदों (स्ट्रेन) के जननद्रव्य (जर्मप्लाज्म) का संग्रह।
7. इस प्रकार नवीकरणीय, वैकल्पिक, प्रदूषण रहित, स्वच्छ और सस्ते ऊर्जा स्रोत के रूप में बायोमास में राष्ट्र के लिए एक भावी ऊर्जा-स्रोत हो सकने की भारी क्षमता है। इस विशाल स्रोत से कारगर रूप में ऊर्जा प्राप्त करने के लिए उपयुक्त प्रौद्योगिकी विकसित की जा चुकी है।

➢ डॉ. दिनेश मणि(रीडर)
रसायन विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद-211002

सब्ज़ियाँ और हमारा स्वास्थ्य

▪ डॉ. ए. के. पाण्डेय

भारत दुनिया का एक प्रमुख सब्ज़ी उत्पादक देश है। यहाँ सब्ज़ियों की खेती पर्वतीय क्षेत्रों से लेकर समुद्र के तटवर्ती भागों तक सफलतापूर्वक की जाती है। हमारे देश की जलवायु में विविधता के कारण लगभग 175 प्रकार की प्रमुख एवं अल्प प्रचलित सब्ज़ियाँ उगाई जाती हैं जिसमें 82 पत्ती वाली सब्ज़ियाँ तथा 41 कंदीय एवं शल्ककंदीय सब्ज़ियाँ शामिल हैं। इसमें से 60 से अधिक प्रकार की सब्ज़ियों को व्यावसायिक स्तर पर उगाया जाता है।

सब्ज़ियाँ

कुछ प्रमुख सब्ज़ियों का उत्पादन देश के किसी न किसी भू-भाग में हर वक़्त किया जाता है जिससे सब्ज़ियों की उपलब्धता पूरे वर्ष भर बनी रहती है। वर्ष 2008-09 में हमारे देश का सकल सब्ज़ी उत्पादन 12.90 करोड़ टन था जो विश्व सब्ज़ी उत्पादन का 13.4 प्रतिशत था। चीन 45.77 करोड़ टन सब्ज़ी उत्पादन कर विश्व में प्रथम स्थान पर था। अन्य बड़े सब्ज़ी उत्पादक देशों में अमेरिका, तुर्की, मिस्र, रशियन फेडरेशन शामिल हैं। हमारे देश में सब्ज़ी की उत्पादकता लगभग 162 टन प्रति हेक्टेयर है। स्वतंत्रता के बाद देश में सब्ज़ी का उत्पादन 6 गुना से अधिक बढ़ा है। लेकिन देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को देखते हुए सब्ज़ी का उत्पादन और अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। वर्ष 1991 – 2001 के दशक में जनसंख्या में दशकीय वृद्धि दर 21.34 प्रतिशत रही। इसके पिछले दशक में यह वृद्धि दर 23.86 प्रतिशत रही। वर्तमान में जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि दर 1.95 प्रतिशत है। अनुमानतः वर्ष 2050 तक भारत की जनसंख्या 1.65 अरब तक पहुँच जाएगी। भारत में सब्ज़ी उत्पादन के लक्ष्य को सारिणी-1 में दिया गया है।

सारिणी-1 भारत में सब्ज़ी उत्पादन की वर्तमान दर एवं मांग

वर्ष	उत्पादन (करोड़ टन)	मांग (करोड़ टन)
2005 – 06	10.31	10.81

2011 – 12	13.52	14.00
2020 – 21	15.09	16.0

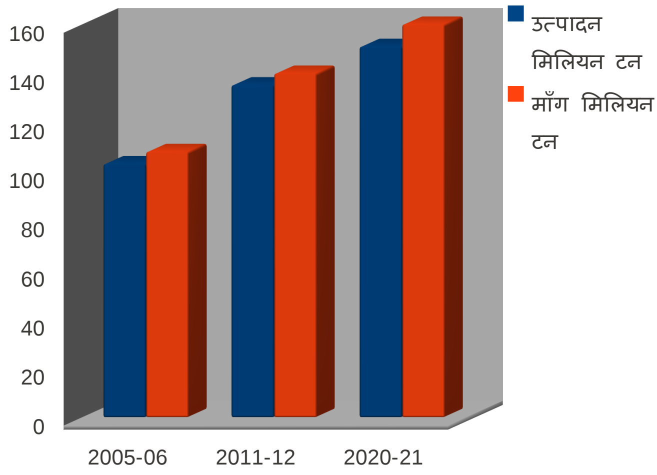

भारत में सब्जी उत्पादन की वर्तमान दर एवं मांग

एक अनुमान के अनुसार विश्व में 80 करोड़ लोगों की ऊर्जा और प्रोटीन की आवश्यकता पूरी नहीं होती है और 20 करोड़ लोग भोजन में सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की संतुलित आपूर्ति से वंचित हैं तथा 10 करोड़ लोग असुरक्षित एवं असंतुलित भोजन के कारण पीड़ित हैं। लगभग सभी विकासशील देशों में विटामिन 'ए', आयोडीन और आयरन की कमी है और कुछ विकासशील देशों में सूक्ष्म तत्वों की कमी है। विश्व में 138 लाख लोग विटामिन ए की कमी से उत्पन्न रतौंधी की समस्या से ग्रसित हैं या पूर्ण रूप से अंधे हो चुके हैं। इसी प्रकार प्रति दस बच्चों में से 6 बच्चों की विटामिन 'ए' की कमी से उत्पन्न समस्याओं के कारण मौत हो जाती है। चीन और कुछ अफ्रीकी देशों में आयोडीन की उपलब्धता कम है। इसके कारण प्रति एक हज़ार में 8 बच्चों की मौत जन्म के तुरंत बाद हो जाती है और जो बचते हैं उनमें थायरॉइड हार्मोन की कमी के कारण उनका मानसिक विकास पूरी तरह से नहीं हो पाता है और उनकी जीवन अवधि भी कम होती है और कुछ अन्धे एवं बहरे होते हैं। विश्व में सूक्ष्म तत्वों की कमी से कुपोषित लोगों की संख्या सारिणी-2 में दी गई है।

सारिणी-2 विश्व में कुपोषण से प्रभावित जनसंख्या (लाख में)

क्षेत्र	आयोडीन की	विटामिन ए की	आयरन की कमी

	कमी (घेंघा रोग)	कमी (रतौंधी)	(रक्त अल्पता)
अफ्रीका	390	13	2060
अमेरिका	300	1	940
दक्षिण एवं द.पू. एशिया	1000	100	6160
यूरोप	140	-	270
पूर्वी भूमध्य रेखीय देश	120	10	1490
पश्चिमी पैसिफिक तथा चीन	300	14	10580
संपूर्ण	2250	138	21500

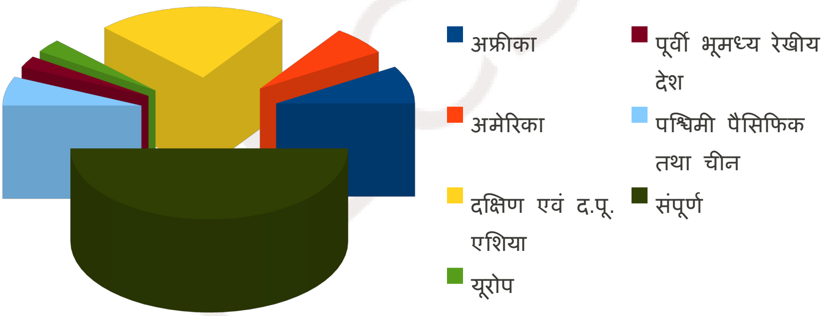

रक्त-अल्पता की समस्या

आहार में आयरन की कमी होने से रक्त के हीमोग्लोबिन का निर्माण रुक जाता है जिससे रक्त अल्पता की समस्या आ जाती है। वैसे रक्त अल्पता के कारणों में आयरन के अलावा फोलेट और विटामिन बी-12 भी होते हैं। आयरन की कमी से सबसे ज्यादा बच्चे एवं महिलाएँ, विशेषकर गर्भवती महिलाएँ प्रभावित होती हैं। बच्चों में आयरन की कमी उनकी बढ़वार के लिए अत्यधिक आयरन की मांग के कारण होती है जबकि महिलाओं में मासिक धर्म से होने वाले रक्तस्राव के कारण और पुनः गर्भावस्था के समय अत्यधिक आयरन की आवश्यकता के कारण। रक्त अल्पता के

कारण मनुष्य के शारीरिक श्रम करने की शक्ति पर भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। दक्षिण एशियाई देशों में सर्वाधिक रक्त अल्पता की समस्या है। इस क्षेत्र की लगभग 80% गर्भवती महिलाएँ रक्त अल्पता से पीड़ित हैं। बांग्लादेश में तीन चौथाई महिलाएँ और लगभग इससे थोड़ी-सी कम संख्या में बच्चे रक्त अल्पता के शिकार हैं। रक्त अल्पता के कारण मृत्यु भी हो जाती है (विश्व स्वास्थ्य संगठन, 1999)। भूटान में रक्त अल्पता को गर्भवती महिलाओं की एक प्रमुख समस्या के रूप में पहचान की गई है ओर 39 प्रतिशत गर्भवती महिलाएँ रक्त अल्पता की सूची में दर्ज की गई हैं। नेपाल में 14 वर्ष तथा पाकिस्तान में 5 वर्ष से कम उम्र के बच्चे भी रक्त अल्पता के शिकार हैं। कम्बोडिया में भी रक्त अल्पता की बहुत बड़ी समस्या है और इसे मातृ मृत्यु का एक प्रमुख कारण माना जाता है (यूनीसेफ,1999)। विभिन्न देशों में गर्भवती महिलाओं एवं बच्चों में रक्त अल्पता सम्बन्धी आंकड़े सारिणी (3) में दिए गए हैं।

सारिणी- 3 दक्षिण एशियाई देशों में गर्भवती महिलाओं एवं बच्चों में रक्त अल्पता का प्रतिशत

देश	गर्भवती महिलाएँ	बच्चे
बांग्लादेश	77.0	69.0
भूटान	68.0	58.0
कम्बोडिया	74.0	82.0
चीन	23.0	15.0
भारत	87.5	56.0
इण्डोनेशिया	51.	65.0
लाओस	28.0	-
मालदीव	68.0	82.0
म्यांमार	75.0	30.0
नेपाल	75.0	78.0
पाकिस्तान	45.0	65.0
फिलिपीन्स	42.0	27.0
श्रीलंका	58.0	45.0

HBCSE

थाईलैण्ड	13.0	15.0
वियतनाम	52.0	46.0

स्रोत : (विश्व स्वास्थ्य संगठन, 1999)

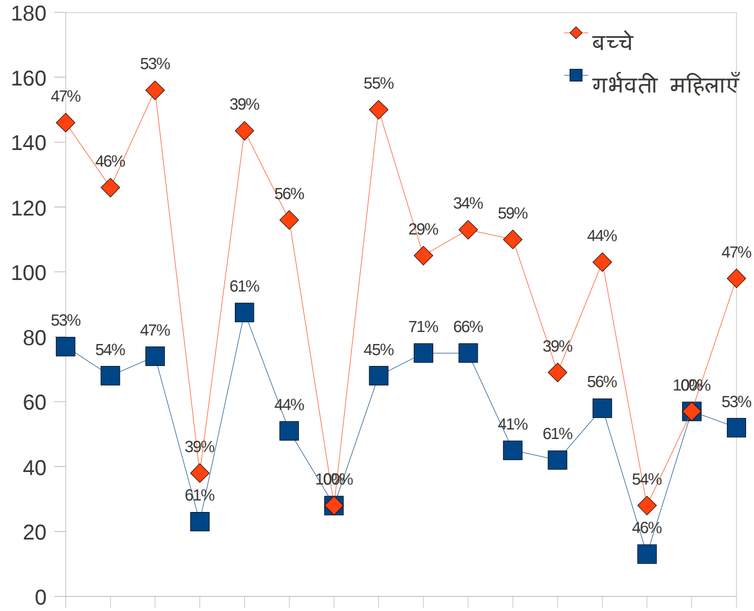

सब्ज़ियों का पोषण महत्व

सब्ज़ियाँ मानव स्वास्थ्य के दृष्टि से महत्वपूर्ण पोषक तत्वों का प्रमुख स्रोत हैं। सब्ज़ियाँ विशेषकर सूक्ष्मतत्वों, प्रो-विटामिन ए, बी-6, सी एवं विटामिन-ई के अतिरिक्त फोलिक अम्ल, आयरन एवं मैग्नीशियम की अच्छी स्रोत हैं। पोषक तत्वों के आधार पर विभिन्न सब्ज़ियों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया गया है।

सारिणी-4 पोषक तत्वों के आधार पर सब्ज़ियों का वर्गीकरण

पोषक तत्व	**सब्ज़ियाँ**
कार्बोहाइड्रेट	आलू, शंकरकंद, टैपिओका, याम, कोलोकेसिया
प्रोटीन	दलहनी सब्ज़ियाँ, स्वीट कार्न, मटर, सरसों की पत्ती
वसा	कद्दूवर्गीय सब्ज़ियों के बीज एवं लेग्यूम
प्रो-विटामिन ए	हरी पत्ती वाली सब्ज़ियाँ, पालक, चौलाई, मेथी,

	सहिजन, गाजर, शिमला मिर्च
विटामिन सी	टमाटर, मिर्च खरबूज, बीन्स
खनिज लवण	गोभीवर्गीय सब्ज़ियाँ एवं सभी पत्ती वाली सब्ज़ियाँ
फोलिक अम्ल	पालक एवं अन्य पत्ती वाली सब्ज़ियाँ
जटिल कार्बोहाइड्रेट	सेलरी, पत्तागोभी, पालक , लेट्यूस

खाद्य रेशे की महत्वपूर्ण स्रोत हैं सब्जियां

सब्ज़ियाँ जिसमें अधिक रेशा पाया जाता है, उसमें प्रमुख हैं पालक (6.3 प्रतिशत, मटर (9.5 प्रतिशत), बाकला (4.2 प्रतिशत) , भिण्डी (3.1 प्रतिशत) । खाद्य रेशा कोरोनरी हृदय रोगों को दूर करने में मदद करता है। खाद्य रेशा मुख्य रूप से बाइल सॉल्ट के साथ क्रिया करके इसे पुनः अवशोषण से रोकता है जिससे कोलेस्ट्रॉल का प्रवाह कम होता है। कुछ विशेष प्रकार के रेशे जैसे गम एवं पेक्टिन को जब आहार में लिया जाता है उस अवस्था में यह रक्त में ग्लूकोज़ के स्तर को कम करते हैं। इस तरह के रेशे को विशेष प्रकार के डायबिटीज़ को दूर करने के लिए दिया जाता है। उदाहरणस्वरूप लहसुन का सत पेन्क्रियाज़ की बी कोशिका में इन्सुलिन के स्तर को बढ़ाकर ग्लूकोज़ के स्तर को कम करता है। इसी प्रकार पत्तागोभी में पाये जाने वाला थायोग्लाइकेओसाइड हाइपोग्लाइसेमिक प्रभाव रखता है। आहार में रेशा की कमी होने से कोलन के कैंसर का खतरा बढ़ जाता है। आहार विशेषज्ञों के अनुसार प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 40 ग्राम खाद्य रेशा भोजन में अवश्य लेना चाहिए।

ल्यूटिन एवं जीयाजैन्थिन के स्रोत के रूप में हरी पत्ती वाली सब्ज़ियाँ

उम्र सम्बन्धित मैकुलर क्षरण को सब्ज़ियों में पाये जाने वाले ल्यूटिन एवं जीयाजैन्थिन द्वारा रोका जा सकता है। ल्यूटिन एवं जीयाजैन्थिन की अत्यधिक मात्रा पीले वर्णक वाले फलों, कार्न एवं हरी पत्ती वाली सब्ज़ियों में पाई जाती है। कुछ नई पत्ती वाली सब्ज़ियों जैसे स्विस चार्ड, केल तथा कोलार्ड में ल्यूटिन एवं जीयाजैन्थिन की मात्रा काफी अधिक पाई जाती है। ल्यूटिन एवं जीयाजैन्थिन दोनों वर्णकों को कैरोटिनायड के अंतर्गत रखा जाता है, क्योंकि ये एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और रेटिना में ल्यूटिन का जियाजैन्थिन में परिवर्तन हो जाता है। ल्यूटिन एवं जीयाजैन्थिन हमारे आहार से अवशोषित होकर रक्त में मिल जाता है और ये आँख के मैकुलर क्षेत्र में केन्द्रित हो जाता है। ल्यूटिन एवं जीयाजैन्थिन का एकमेव

HBCSE

स्रोत पादप जनित आहार ही है क्योंकि इसका अन्य स्रोतों से संश्लेषण नहीं होता है। ल्यूटिन एवं जीयाजैन्थिन एक प्रभावी एन्टीआक्सीडेंट भी है और यह मूलकों यानी रेडिकल्स द्वारा की गई आक्सीकृत क्षति को कम करने में प्रभावी होता है। रेटिना मानव शरीर का वह अंग है जहाँ सर्वाधिक मात्रा में रेडिकल्स उत्पन्न होते हैं और इस अवस्था में यदि पर्याप्त मात्रा में ल्यूटिन एवं जीयाजैन्थिन की मात्रा होती है तो यह इनके दुष्प्रभाव को रोकने में कारगर सिद्ध होते हैं।

सब्ज़ियाँ फोलिक अम्ल के स्रोत के रूप में

फोलिक अम्ल जिसे सामान्य रूप से फोलेट कहते हैं यह पालक में (23 मिली/100 ग्राम), अन्य हरी पत्ती वाली सब्ज़ियों में (40 से 80 मिली/100 ग्राम), बीन्स (144 मिली/100 ग्राम) बहुतायत से पाया जाता है। यह लाल रक्त कणिकाओं के बनाने एवं परिपक्व होने में मदद करता है। इसकी कमी हो जाने से मेगालोब्लास्टिक एनीमिया की सम्भावना बढ़ जाती है। फोलिक अम्ल होमोसिस्टिन के स्तर को कम करता है जिससे धमनियाँ मोटी नहीं होती हैं। शरीर में होमोसिस्टीन के स्तर में कमी करके हार्ट अटैक एवं स्ट्रोक पर प्रभावी नियंत्रण पाया जा सकता है।

सब्ज़ियों का कैंसर प्रतिरोधी गुण

आधुनिक अनुसंधानों में सबसे अधिक ध्यान पोषण आधारित कैंसर प्रतिरोधी पोषक तत्वों पर केन्द्रित किया जाता है। सब्ज़ियाँ इन कैंसर प्रतिरोधी यौगिकों की प्रमुख घटक हैं। सब्ज़ियों में पाये जाने वाले कैंसर प्रतिरोधी यौगिक सारिणी (5) में दिए गए हैं।

सारिणी-5 सब्ज़ियों में पाये जाने वाले कैंसर प्रतिरोधी यौगिक

यौगिक स्रोत	**प्रमुख अवयव**	**सब्ज़ी**
ग्लूकोसिनोलेट	इण्डोल-3-कार्बिनाल	गोभीवर्गीय सब्ज़ियाँ जैसे- ब्रोकोली, ब्रुसल्स स्प्राउट, पत्तागोभी आदि
अर्गेनोसल्फर यौगिक	डाइएलाइलसल्फाइड	प्याज, लहसुन,गाजर,
कैरोटिनायड्स	बीटा कैरोटिन	टमाटर, कद्दू, हरी पत्तीवाली सब्ज़ियाँ

सब्ज़ियाँ एवं एन्टीआक्सीडेन्ट

सब्ज़ियाँ एन्टीआक्सीडेन्ट की प्रमुख स्रोत हैं। एन्टीआक्सीडेन्ट को मुख्य रूप से दो वर्गों में बाँटा जाता है 1. जल में विलेय (हाइड्रोफिलिक) 2. वसा में विलेय (हाइड्रोफोबिक)। विभिन्न प्रकार के एन्टीआक्सीडेन्ट शरीर के द्रव्य, ऊतक में उपस्थित रहते हैं जैसे ग्लूटैथियोन या यूबीक्वीनोन मुख्य रूप से कोशिकाओं में उपस्थित रहते हैं। जबकि यूरिक अम्ल सामान्य रूप से वितरित होता है। कुछ पोषक तत्व एन्टीआक्सीडेन्ट नहीं हैं लेकिन एन्टीआक्सीडेन्ट एन्जाइम की क्रियाशीलता के लिए भी आवश्यक होते हैं जैसे सेलेनियम एवं ज़िंक। प्रमुख एन्टीआक्सीडेन्ट को सारिणी (6) में दिया गया है-

सारिणी-6 प्रमुख एन्टिआक्सीडेन्ट एवं उनकी घुलनशीलता

एन्टीआक्सीडेन्ट मेटाबोलाइट	घुलनशीलता	मानवसीरम में सांद्रता (माइक्रोमोल)	यकृत के ऊतक में सांद्रता (माइक्रोमोल/किग्रा.)
विटामिन सी	जल	50-60	260(मानव)
ग्लूटैथियोन	जल	4	6400 (मानव)
लिपोइक अम्ल	जल	0.1 -0.7	4-5 (चूहे)
यूरिक अम्ल	जल	200-400	1600 (मानव)
कैरोटिन	वसा	रेटिनॉल 1-3 बीटा कैरोटिन 0.5 – 1	5 (मानव, सम्पूर्ण कैरोटिनायड)
अल्फाटोको फेरॉल	वसा	10-40	50 (मानव)

HBCSE

सब्ज़ियों की ओ.आर.ए. सी. वैल्यू (आक्सीजन रेडिकल एब्ज़ॉर्बिंग कैपेसिटी)

आक्सीजन रेडिकल एब्ज़ॉर्बिंग कैपेसिटी के द्वारा एन्टीआक्सीडेन्ट क्षमता का आकलन किया जाता है। ओ.आर.ए.सी. मुख्य रूप से इस तथ्य को दर्शाता है कि किसी खाद्य पदार्थ में एन्टीआक्सीडेंट की कितनी मात्रा है और यह फ्री रेडिकल से अभिक्रिया करने में कितना समय लेता है। आहार जिनकी ओ.आर.ए.सी. वैल्यू अधिक होती है उनकी **एन्टीआक्सीडेन्ट क्षमता उसी अनुपात में अधिक मानी जाती है।** कुछ प्रमुख सब्ज़ियों की ओ.आर.ए.सी. वैल्यू सारिणी (7) में दी गयी है।

सारिणी-7 कुछ प्रमुख सब्ज़ियों की ओ.आर.ए.सी. वैल्यू

सब्ज़ियाँ	**ओ. आर.ए.सी. वैल्यू**
केला	1770
पालक हरा	1260
ब्रुसेल्स स्प्राउट	980
पालक (उबाली)	909
ब्रोकोली	890
चुकन्दर	841
लाल शिमला मिर्च	713
प्याज	450
कॉर्न	400
बैंगन	390
फूल गोभी	377
मटर (फ्रोज़ेन)	364
आलू	313
शकरकंद	301
गाजर	207
फ्रेन्चबीन	201
टमाटर	189

सब्ज़ियों का औषधीय महत्व

सब्ज़ियों में विभिन्न प्रकार के फ्लैवोनॉयड्स जैसे फ्लैवोन्स, फ्लैवोनाल्स, एन्थ्रोसाइएनिन, कैटकिन्स और बाइफ्लैवोनॉल्स पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त वसा विलेय टोकोफेरॉल्स एवं फ्लैवोनॉयड्स ऐसे सक्रिय एन्टीआक्सीडेन्ट हैं जिनका पोषण में बहुत अधिक महत्व है। कुछ सब्ज़ियों में इलैजिक अम्ल होता है, जिसका मुख्य अवयव फीनोलिक होता है। ये बहुत ही महत्वपूर्ण है जो सामान्य कैंसर को रोकने के लिए आवश्यक होता है। आधुनिक अनुसंधानों से पता चलता है कि गोभी वर्गीय सब्ज़ियों में इण्डोल्स यौगिक पाया जाता है जिसकी कोलन, रेक्टम तथा ब्रेस्ट कैंसर रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विभिन्न सब्ज़ियों के औषधीय महत्व को सारिणी (8) में दिया गया है-

सारिणी-8 सब्ज़ियों का औषधीय महत्व

सब्ज़ियाँ औषधीय महत्व
1. टमाटर- टमाटर में बीटा कैरोटिन कम पाया जाता है लेकिन लाइकोपीन अधिक होता है। यह एक प्रमुख एन्टीआक्सीडेन्ट है इसके अतिरिक्त इसमें विटामिन-सी बहुत अधिक होता है जिसका एन्टीआक्सीडेन्ट गुण होता है। टमाटर का सेवन प्रोस्ट्रेट कैंसर में लाभप्रद होता है। इसके ताज़े फल का सेवन वृक्क (किडनी) तथा यकृत (लिवर) को ठीक रखता है।
2. पत्ता गोभी- पत्ता गोभी में पाये जाने वाले एस्कॉर्बिक अम्ल, टोकोफेरॉल कैरोटिनायड्स, आइसोथायोसाइनेट, इण्डोल्स और फ्लैनायड्स संरक्षी रसायन के रूप में काम करते हैं। इसमें कैंसर प्रतिरोधी गुण भी पाया जाता है। आयुर्वेदिक औषधियों में पत्ता गोभी कफ, बुखार, त्वचा रोगों, अल्सर, मूत्र रोगों तथा बवासीर प्रयोग लाभकारी पाया गया है।
3.ब्रोकोली- अमेरिकन कैंसर सोसायटी के अनुसार ब्रोकोली के सेवन से कैंसर रोग से बचाव होता है। इसका गंधक युक्त पादप रसायन ग्लूकोसिनोलेट तथा एस. मिथाइलसिस्टिन सल्फाआक्साइड कैंसर में ट्यूमर बनने से रोकता है।
4. मूली- मूली की तासीर ठंडी होती है। यह कब्ज़ दूर करती है तथा भूख बढ़ाती है। यह अग्निदीपक, तीक्ष्ण, पाचक, हृदय के लिए हितकारी, मधुर, बल कारक मूल, बवासीर, क्षय, नेत्र, श्वाँस, वात, कफ तथा कुष्ठ रोगों में लाभकारी है। पीलिया रोगियों के लिए यह बहुत लाभकर है।
5.गाजर- गाजर में पाया जाने वाला बीटाकैरोटीन एक बहुत ही महत्वपूर्ण एन्टीआक्सीडेन्ट है जो कैंसर रोग से बचाव में सहायक होता है। इसका हर्बल दवाओं में बहुत इस्तेमाल होता है। यह पीलिया रोग में भी लाभकर होता है। इसके जड़ एवं बीज का पुल्टिस के रूप में अल्सर, जलने तथा अन्य घाव में प्रयोग होता है। यह मूत्र रोगों में लाभकर है तथा नाइट्रोजन को संतुलित रखता है और यूरिक अम्ल को दूर करता है।
6.करेला- इसके फल का सेवन डाइबिटीज़, गठिया रक्त रोगों तथा दमा आदि रोगों में अत्यधिक उपयोगी होता है। फल का रस छालों, जलने से उत्पन्न फफोलों और फोड़े आदि में लाभकर होता है। करेले की पत्तियाँ आंतरिक रेचक और फुँसियों के लिए मरहम के रूप में प्रयोग की जाती है। फल व पत्तियाँ, कीटनाशक हैं, कुष्ठ रोग बवासीर तथा पेट के कीड़े निकालने की औषधि के रूप में उपयोगी है। इसका फल शीघ्र पचने वाला

होता है। फल मृदु रेचक के साथ बलगमनाशी होता है। पुलटिस के रूप में लौकी के गूदे का प्रयोग किया जाता है। इसके बीज के तेल का प्रयोग सरदर्द में किया जाता है।

7.प्याज- अल्सर, आँख की बीमारियों, पाचन तंत्र से जुड़ी विकृतियों, उच्च रक्त चाप तथा मलेरिया बुखार में इसका प्रयोग लाभप्रद होता है। प्याज में गंधक युक्त यौगिक होने के कारण इसमें कीटनाशी, कवकनाशी एवं जर्मनाशी गुण पाया जाता है। कच्चे सलाद के रूप में प्रयोग करने पर यह मूत्रवर्धन तथा अतर्वर्जनक होता है। इसके रस का प्रयोग सरदर्द, बेहोशी, मिर्गी आदि से उत्पन्न रोगों को दूर करने के लिए किया जाता है।

8.लहसुन- इसके प्रयोग से रक्त में कोलेस्ट्रॉल एवं शर्करा की मात्रा में कमी होती है इसका चूर्ण पाचक, पेट के विकारों में लाभदायक व पाचन विकृतियों के उपचार में उपयोगी होता है। इसको नमक के साथ मिलाकर प्रयोग करने से तंत्रिका तंत्र की तकलीफें, सरदर्द, उदरवायु, मिरगी आदि रोगों में लाभ होता है। गले की खराश, दमा, पक्षाघात, चेहरे के पक्षाघात व तंत्रिकाशूल आदि को दूर करने में यह उपयोगी होता है।

➢ प्रधान वैज्ञानिक
भारतीय सब्ज़ी अनुसंधान संस्थान
जखिनी
वाराणसी-221305
ई-मेल: pandey.ajai1@gmail.com

प्रति-आक्सीकारक

▪ डॉ. अर्चना पाण्डेय

प्रतिआक्सीकारक वे यौगिक हैं जो दूसरे पदार्थों एवं तत्वों के आक्सीकरण को रोकते हैं। आक्सीकरण एक रासायनिक अभिक्रिया है जिसके फलस्वरूप मुक्त मूलक बनते हैं। ये मुक्त मूलक स्वास्थ्य के लिए अत्यधिक हानिकारक होते हैं। प्रतिआक्सीकारक इन मुक्त मूलकों से क्रिया करके उनको निष्क्रिय बना देते हैं। जैसे-जैसे शरीर में मुक्त मूलकों के बनने की प्रक्रिया तेज़ होने लगती है वैसे-वैसे उसमें बुढ़ापा एवं बुढ़ापे के कारण होने वाली बीमारियाँ अपना पैर पसारने लगती हैं।

आक्सीकारक

वैसे तो 'बुढ़ापा' अथवा 'जरण' (ageing) एक आवश्यक जैविक घटना है जो सार्वभौमिक (universal) सत्य है। जीवविज्ञानियों की दृष्टि में यह असम्भव है कि जीवनपर्यन्त व्यक्ति युवा ही बना रहेगा। लेकिन स्वस्थ एवं लम्बा जीवन जीना प्राणिमात्र की आकांक्षा रहती है।

कुछ वैज्ञानिकों का कहना है- "हम लोगों के शरीर में मौजूद न्यूक्लिक अम्ल, लिपिड व प्रोटीन के नष्ट होने एवं पुनर्निर्माण होने में एक संतुलन होता है। जब इस संतुलन की अवस्था में व्यतिक्रम आने लगता है तो कोशिकाओं, हड्डियों, ऊतक व अंगों का धीरे-धीरे क्षरण होने लगता है जिससे शरीर क्षीण होने लगता है। बुढ़ापे (ageing) के बारे में भिन्न-भिन्न लोगों के अलग-अलग मत है जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

1. प्रत्येक प्राणी के शरीर में एक तेजस्वी, सक्रिय एवं अत्यावश्यक तत्व होता है। इस तत्व की एक निश्चित मात्रा होती है। जब यह

मात्रा कम होने लगती है तो व्यक्ति वृद्ध होने लगता है तथा इस तत्व के समाप्त होने पर मृत्यु हो जाती है। इसी से मिलती जुलती एक प्राचीन अवधारणा भी है कि प्रत्येक जीव की सांसें अथवा दिल की धड़कनों की संख्या जन्म से ही निश्चित होती है। जब यह संख्या पूरी होती है तो व्यक्ति का अवसान हो जाता है।

2. "ग्रीनबर्ग" नामक वैज्ञानिक के अनुसार वृद्धावस्था "आक्सीजन उपापचय" पर निर्भर करती है। जिन प्राणियों में आक्सीजन उपापचय की गति अत्यन्त तीव्र होती है उनकी जीवनावधि छोटी होती है। सम्भवतः इसलिए भारतीय परम्परा में प्राणायाम एवं योग द्वारा श्वास की गति को धीमा व सन्तुलित करने का प्रयास किया जाता है।
3. "कोरल" के सिद्धान्त के अनुसार- कोशिकाएँ कुछ त्याज्य पदार्थ पैदा करती रहती हैं। जब त्याज्य पदार्थ के इकट्ठा होने का अनुपात उसके निस्तारण के अनुपात से ज्यादा होता है तो यह विष का काम करने लगता है। शरीर की सामान्य प्रक्रियाएँ बाधित होने लगती हैं और कोशिकाएँ धीरे-धीरे मरने लगती हैं।
4. सबसे विश्वसनीय एवं वैज्ञानिकों मत "हारमन" (1992) ने दिया जिसके अनुसार "मुक्त मूलक" ही वृद्धावस्था के मुख्य कारण हैं।

मुक्त मूलक क्या है?

परमाणु या परमाणुओं का समूह जिसमें एक विषम इलेक्ट्रॉन उपस्थित होता है, मुक्त मूलक कहलाता है। मुक्त मूलक के सूत्र में इलेक्ट्रॉन को बिन्दु द्वारा निरूपित कहते हैं जैसे A° । मुक्त मूलकों में चूँकि एक ही इलेक्ट्रॉन होता है अतः उनमें अपने को युग्मित करने की प्रबल प्रवृत्ति होती है। ये शीघ्रता से अपने आस-पास उपस्थित अणुओं से इलेक्ट्रॉन खींचकर अपने को युग्मित कर लेते हैं

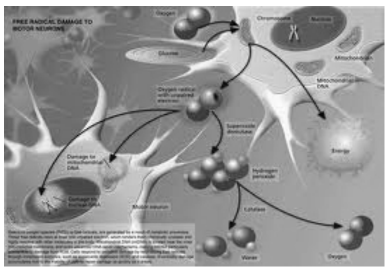

रिएक्टिव आक्सीजन स्पिशीज़

परन्तु इस प्रक्रिया में अब जिस स्थायी अणु से एक इलेक्ट्रॉन खींच लिया गया है, वह मुक्त मूलक में परिवर्तित हो जाता है। अब यह नया बना हुआ मुक्त मूलक दूसरे स्थायी अणु से इलेक्ट्रॉन खींच लेता है और इस प्रकार मुक्त मूलकों के बनने की एक श्रृंखला आरम्भ हो जाती है। ये मुक्त मूलक अत्यन्त अभिक्रियाशील होते हैं। अतः इनके बनने की गति अनियन्त्रित होती जाती है। एक बार इस तरह का प्रक्रम आरम्भ हो जाने पर यह तभी समाप्त होता है जब कोशिका की अन्ततः मृत्यु हो जाती है।

मुक्त मूलकों की ही तरह कुछ अन्य अणु भी हैं जो इनकी ही तरह काम करते हैं व उतने ही खतरनाक हैं। इस प्रकार के अणुओं एवं मुक्त मूलकों को सामूहिक रूप से क्रियाशील आक्सीजन उत्पाद या रिएक्टिव आक्सीजन स्पिशीज़ (ROS) कहते हैं।

ROS के प्रकार

शरीर में होने वाली विभिन्न उपापचयी क्रियाओं के परिणामस्वरूप बनने वाले मुक्त मूलक इस प्रकार हैं- हाइड्रॉक्सिल मूलक, सुपरआक्साइड मूलक, हाइड्रोपरआक्सी मूलक, ऐल्कॉक्सिल मूलक, परआक्सिल मूलक, नाइट्रिक आक्साइड मूलक आदि। इनके अलावा कई अणु हैं जो मुक्त मूलक तो नहीं हैं परन्तु अत्यन्त अभिक्रियाशील हैं एवं मुक्त मूलकों की तरह ही हानिकारक हैं जैसे- सिंगलेट, आक्सीजन, हाइड्रोजनपरआक्साइड एवं हाइपोक्लोरस अम्ल, आदि।

ROS कैसे बनते हैं?

शरीर में इनकी उत्पत्ति के कई कारण हैं-

1. ये खाद्य पदार्थों के आक्सीकरण से पैदा होते हैं।
2. जब विषाणु या जीवाणु शरीर में प्रवेश करते हैं तो शरीर का प्रतिरक्षातंत्र सक्रिय हो जाता है। इन जीवाणुओं को नष्ट करते समय भी ROS पैदा होता है।
3. इनकी उत्पत्ति का एक महत्वपूर्ण एवं मुख्य कारण "व्यक्तिगत मानसिक दबाव" भी है।
4. अत्यधिक व्यायाम भी इनको पैदा कर सकते हैं। व्यायाम के समय शरीर लगभग 10 से 20 गुना ज़्यादा आक्सीजन का प्रयोग करता है। वैसे तो आक्सीजन स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है परंतु उपापचय के बाद जब यह अपने से अधिक क्रियाशील आक्सीजन उत्पाद बनाने लगती है और तब यह घातक सिद्ध होती है।
5. अधिक वसा युक्त भोजन एवं रेशेदार फलों एवं सब्ज़ियों का कम उपयोग भी इनको उत्पन्न करने का कारण बनता है।
6. कुछ वातावरणीय घटक भी इनके उत्पादन के लिए जिम्मेदार हैं जैसे-, जल एवं वायु प्रदूषण, पराबैंगनी विकिरण, सिगरेट एवं मोटरगाड़ियों से निकला धुआँ, आदि। कई दवाइयाँ तथा कीटनाशक पदार्थों के कारण भी ये पैदा होते हैं।

ROS के प्रभाव

क्रियाशील आक्सीजन उत्पाद (ROS) न्यूक्लिक अम्ल जैसे डी.एन.ए. एवं

आर.एन.ए., प्रोटीन, लिपिड आदि से क्रिया करके उनको भीषण नुकसान पहुँचाते हैं। परिणामस्वरूप बुढ़ापे जनित कई रोग हो जाते हैं- मोतियाबिन्द, मधुमेह, पार्किन्सन, एल्ज़ाइमर, गठिया, उच्चरक्तचाप, अनिद्रा, औस्टियोपोरोसिस, कैंसर, अवसाद, इत्यादि।

प्रतिआक्सीकारकों की क्रियाविधि

प्रतिआक्सीकारक वे पदार्थ हैं जो क्रियाशील आक्सीजन उत्पादों से अभिक्रिया करके उनकों समाप्त करते हैं। इसीलिए प्रतिआक्सीकारकों को प्राय : मुक्त मूलक मार्जक (Free radical scavengers) भी कहते हैं।

सामान्यतः शरीर की विभिन्न कोशिकाएँ पहले से ही कुछ प्रतिआक्सीकारक पैदा करती हैं जो इन ROS से समय-समय पर निबटते रहते हैं। परंतु कई बार ऐसा होता है कि ROS इतनी अधिक मात्रा में उत्पन्न होने लगते हैं कि शरीर में पहले से उपस्थित प्रतिआक्सीकारक इनको समाप्त नहीं कर पाते हैं। ऐसी अवस्था में इन प्रतिआक्सीकारकों की पूर्ति बाहर से खाद्य पदार्थों को लेकर पूरी की जाती है। प्रतिआक्सीकारकों के कार्य करने की प्रणाली दो तरह से समझायी जा सकती है।

(1) **प्राथमिक बचाव (Primary Defence)**

हम लोगों के शरीर का प्रतिरक्षातंत्र ऐसे एन्ज़ाइम उत्पन्न करता रहता है जो प्रतिआक्सीकारकों का काम करते हैं। उदाहरणार्थ- सुपरआक्साइड डिसम्यूटेज़, केटालेजज़, ग्लूटाथायोनरिडक्टेज़, ग्लूटाथायोनपरआक्सीडोज़, ग्लूटाथायोन-एस-ट्रान्सफरेजज़ आदि।

(2) **परोक्ष बचाव (Secondary Defence)**

इस प्रणाली में खाद्य पदार्थों द्वारा लिए गए प्रतिआक्सीकारक शरीर में पहुँचकर ROS से अभिक्रिया करके उनको नष्ट करते हैं। जैसे करक्यूमिन (हल्दी) पाइपरिन (काली मिर्च) लाइकोपीन (टमाटर), विटामिन सी, ई एवं ए आदि।

कुछ महत्वपूर्ण प्रतिआक्सीकारकों का विवरण इस प्रकार है।

विटामिन 'ई' : टोकोफेरॉल) यह 8 प्रतिआक्सीकारकों का संयुक्त रूप होता है। जैसे α, β, γ, δ, आदि। α टोकोफेरॉल परआक्सीरेडिकल को हटाने का काम करता है। यह हमारे शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली को पुष्ट करने के अलावा कैंसर के उपचार के लिए भी प्रयुक्त होता है। यह त्वचा

के दागों को हल्का करके मिटाने के काम भी आता है। अतः इसका प्रयोग कान्तिवर्धक क्रीम व लोशन में भी किया जाता है। अंकुरित अनाजों में इसकी सबसे अधिक मात्रा होती है। इसके अलावा सूरजमुखी के तेल व बादाम में प्रचुर मात्रा में मिलता है। विटामिन 'ई' को खाली पेट नहीं लेना चाहिए तथा आयरनयुक्त पदार्थों के साथ इसे लेना वर्जित है। आयरन यदि फेरस सल्फेट के रूप में है तो विटामिन 'ई' को नष्ट कर देता है जबकि जिंक इसकी क्रियाशीलता को बढ़ाता है। इसको खून पतला करने वाली दवाओं जैसे वारफारिन (Warfarin) व एस्पिरिन के साथ लेना घातक है क्योंकि यह एन्टीकोआगुलेन्ट अर्थात खून के थक्के जमने से रोकने वाला पदार्थ है।

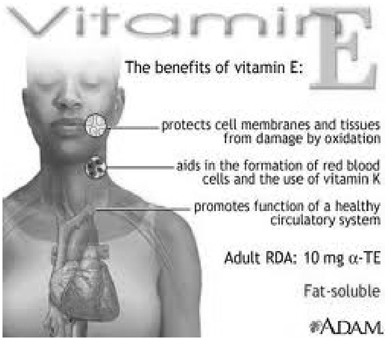

विटामिन 'ई'

विटामिन 'सी' : प्रतिआक्सीकारकों की सूची में विटामिन-सी प्रथम स्थान पर है। यह पानी में आसानी से घुलनशील है अतः यदि यह ज़्यादा मात्रा में भी ले लिया गया हो तो यह पेशाब के जरिये बाहर निकल जाता है। यह नींबू, संतरा, अमरूद, अंगूर, पालक आदि में मिलता है। अनुसंधान करने पर वैज्ञानिकों ने पाया कि विटामिन 'सी' विटामिन 'ई' की प्रतिआक्सीकारक क्षमता को कई गुना बढ़ा देता है। विटामिन 'ई' मुक्त मूलकों को अपना एक इलेक्ट्रॉन देकर उनकी क्रियाशीलता समाप्त करता है परंतु स्वयं मुक्त मूलक में परिवर्तित हो जाता है। ऐसे समय विटामिन 'सी' लगातार अपना इलेक्ट्रॉन देकर विटामिन 'ई' की क्रियाशीलता को बनाए रखता है। विटामिन 'सी' में यह विशेषता होती है कि यह पुनर्चक्रण द्वारा अपने इलेक्ट्रॉन की क्षतिपूर्ति कर लेता है।

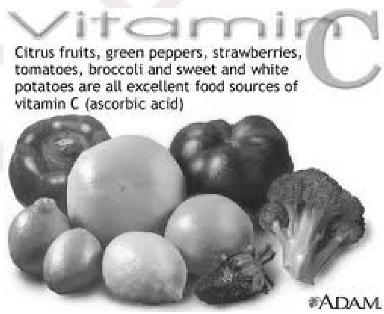

विटामिन 'सी'

विटामिन 'ए' : वैसे तो विटामिन 'ए' का सीधा सम्बंध दृष्टि से है परंतु यह अच्छा प्रतिआक्सीकारक भी है। विटामिन

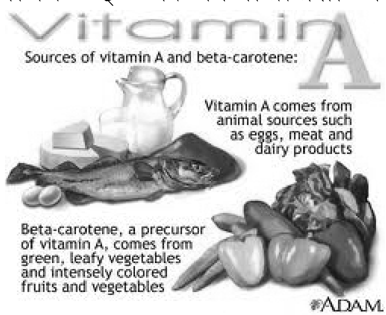

विटामिन 'ए'

'ए' का पूर्वगामी प्रतिआक्सीकारक (Proantioxidant) β केरोटिन है। यह नारंगी व पीले रंग के फलों एवं सब्ज़ियों में बहुतायत से पाया जाता है लेकिन नारंगी व पीला रंग क्लोरोफिल के हरे रंग की वजह से ढक जाता है।

हरी चाय

इसकी प्रतिआक्सीकारक क्षमता कैटाकिन व इपिकैटाकिन नामक पॉलीफिनॉल की वजह से होती है। हरी चाय की पत्तियों को चाय बागानों से तोड़कर तुरंत ही भाप से गुज़ारा जाता है और फिर तवे पर भूनकर डिब्बों में बंद कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया में वे एन्जाइम नष्ट हो जाते हैं जो हरी चाय को काली चाय में परिवर्तित करते हैं। एक कप हरी चाय की प्रतिआक्सीकारक क्षमता एक कप काली चाय से ज़्यादा होती है।

हरी चाय

टमाटर

यह "लाइकोपीन का प्रमुख स्रोत है जो प्रतिआक्सीकारक का काम करता है। टमाटर के अलावा लाइकोपीन, लाल अमरूद, लाल तरबूज में भी पाया जाता है। पका हुआ टमाटर कच्चे टमाटर से ज़्यादा फायदेमंद होता है क्योंकि पकने पर लाइकोपीन का अवशोषण आंतों द्वारा भलीभांति कर लिया जाता है।

टमाटर

हल्दी

इसको "पीत" या "हरिद्रा" भी कहते हैं। सैकड़ों वर्षों से भारत में इसका उपयोग सब्ज़ियों में किया जाता रहा है। इसका राइजोम अत्यन्त उपयोगी है। इसमें "करक्यूमिन" नामक एक फिनोलिक पदार्थ होता है जिसकी वजह से यह पीले

हल्दी

रंग की होती है। करक्यूमिन को "जादुई औषधि" भी कहा जाता है। यह वृद्धावस्था से सम्बन्धित सभी रोगों के इलाज में कारगर है। यह मधुमेह, मोतियाबिंद, जोड़ों के दर्द, ट्यूमर, कैंसर आदि के उपचार में उपयोगी है। करक्यूमिन हानिकारक कोलेस्ट्रॉल को कम करता है एवं घावों को शीघ्रता से भरता है। यह बहुत अच्छा प्रतिआक्सीकारक है तथा आक्सीजन व नाइट्रोजन मुक्त मूलकों को शरीर से बाहर निकालता है। यह लिपिड में घुलनशील है अतः दूध में हल्दी डालकर पीने से अधिक फायदा करता है।

काली मिर्च

इसमें पाइपरिन नामक एक अल्कलॉयड होता है जिसकी वजह से इसका तीखा स्वाद होता है। यह पदार्थ प्रतिआक्सीकारक है तथा लिपिड पर आक्सीकरण को कम करके Ros बनने की गति को धीमा करता है। इस तत्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जिस किसी पदार्थ के साथ मिश्रित करके लिया जाता है, उस पदार्थ की क्रियाशीलता व अवशोषण को कई गुणा बढ़ाता है। हरी चाय में मिलाकर पीने से उसमें उपस्थित केटाकिन की क्रियाशीलता कई गुना बढ़ जाती है।

काली मिर्च

अदरक

हल्दी की तरह इसका राइजोम बहुत उपयोगी है। इसमें "जिन्जेरॉल" नामक प्रतिआक्सीकारक पाया जाता है। यह किसी भी प्रकार की सूजन को कम करता है तथा गठिया के दर्द को भी कम करता है।

अदरक

लौंग

लौंग के तेल में "थाइमोल तथा यूजीनॉल" जैसे शक्तिशाली प्रतिआक्सीकारक मौजूद होते हैं। इसमें हरपीस, हिपेटिटिस की वायरस, बैक्टीरिया, फफूँद आदि को नष्ट करने का गुण भी होता है। यह फेफड़ों के कैंसर के उपचार में लाभदायक होती है।

लौंग

लहसुन

इसमें "एलिसिन" नामक पदार्थ होता है जो प्रतिआक्सीकारक के अलावा LDL कोलेस्ट्रॉल को कम करके खून के दबाव को घटाता है। यह खून को पतला करके दिल की बीमारियों से बचाता है। इसका तीखापन वास्तव में इसमें उपस्थित कई तरह के सल्फाइडों की वजह से होता है।

लहसुन

अंगूर

इसमें "रिज़रवेट्रॉल" नामक प्रतिआक्सीकारक बहुतायत से पाया जाता है। इसके अलावा अंगूर रेडवाइन, चॉकलेट व कोका पाउडर में भी रिज़रवेट्रॉल होता है। प्रतिआक्सीकारक होने के अलावा यह मधुमेह के उपचार में उपयोगी होता है।

अंगूर

सेब

सेब के छिलके में क्यूरसिटिन प्रतिआक्सीकारक होता है। इसके अलावा 29 अन्य लाभदायक पदार्थ भी छिलके में उपस्थित होते हैं। सेब रेशों का बहुत अच्छा स्रोत है। अध्ययन से पाया गया है कि 10 ग्राम सेब रोज़ लेने से दिल की बीमारियों को 14%, एवं दिल की बीमारियों द्वारा मृत्यु की सम्भावनाओं को 27% तक कम किया जा सकता है। एक मध्यम आकार के सेब में 5 ग्राम अविलेय रेशे होते हैं जो कोलेस्ट्रॉल को कम करते हैं। इसमें फ्रक्टोज़ शुगर होती है जो रेशों के साथ मिलकर ब्लड शुगर का स्तर ठीक रखती है। इसमें फ्लैवोनॉयड भी होते हैं जो कैंसर, मधुमेह, अस्थमा आदि बीमारियों से बचाते हैं।

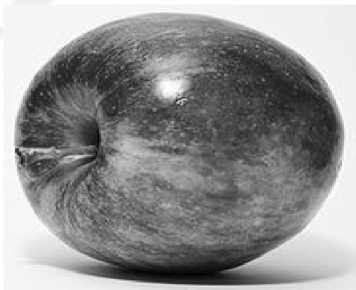

सेब

सिलीनियम

यह तत्व यीस्ट, मछलियों व समुद्री खाद्य पदार्थों में मिलता है तथा अच्छा प्रतिआक्सीकारक है।

प्रतिआक्सीकारकों की सहक्रियाशीलता

विभिन्न पौधें (क्रियाशील तत्व)

पिछले दशक में संश्लेषित औषधियों का प्रचलन कम हुआ है एवं पेड़ पौधों से प्राकृतिक रूप से प्राप्त औषधियों का बाज़ार बढ़ा है। सब्ज़ियों, मसालों, पेड़ पौधों की जड़ों, तनों तथा पत्तियों पर वैज्ञानिक अनुसंधान विश्वभर में किए जा रहे हैं। ये शोध दो दिशाओं में किए जा रहे हैं;

एक तरफ वैज्ञानिक पौधों के विभिन्न भागों से जैविक रूप से क्रियाशील तत्वों (Bioactive compounds) को निकालकर उन पर अनुसंधान कर रहे हैं एवं विभिन्न रोगों के उपचार में उनके प्रयोग करके गोलियाँ तथा कैप्सूल बाज़ार में उतार रहे हैं।

फल और सब्ज़ियाँ (क्रियाशील तत्व)

दूसरे वैज्ञानिकों का मत है कि फलों एवं सब्ज़ियों से निकाले गए क्रियाशील तत्व अकेले उतना फायदा नहीं करते जितना कि फलों व सब्ज़ियों में उपस्थित रहने में लाभदायक होते हैं। इस वैज्ञानिक वर्ग का यह सोचना है कि फलों, सब्ज़ियों एवं मसालों में हजारों रासायनिक यौगिक होते हैं जिनकी विलेयता, आणविक आकार, आयनिक स्वभाव आदि गुण एक दूसरे की क्रियाशीलता पर प्रभाव डालते हैं एवं संतुलित सम्मिश्रित रूप में शरीर द्वारा आसानी से शोषित किये जाते हैं। अकेला शुद्ध क्रियाशील तत्व शरीर को दिग्भ्रमित कर देता है। वैज्ञानिकों का यह भी मानना है कि वे प्रतिआक्सीकारक जो फल या सब्ज़ियों में पाए जाते हैं, अधिक मात्रा में शुद्ध एकल रूप में देने से ज़्यादा लाभदायक होंगे, यह सोचना उचित नहीं है। इनकी अधिक मात्रा घातक भी हो सकती है। सहक्रियाशीलता का सबसे अच्छा उदाहरण "त्रिफला" है जो आंवला, हर्र और बहेड़ा का संतुलित समिश्रण है। इसी प्रकार पीप्पली, काली मिर्च और अदरक का मिश्रण "त्रिकटु" कहलाता है।

खाद्य पदार्थों के संरक्षण में प्रतिआक्सीकारकों का योगदान

खाद्य पदार्थों के भंडारण एवं संरक्षण के लिए भी प्रतिआक्सीकारकों का प्रयोग किया जाता है। प्राकृतिक प्रतिआक्सीकारकों में एस्कॉर्बिक एसिड

(AA, E300) व टोकोफेरॉल (E306) का बहुतायत से इस्तेमाल होता है। कृत्रिम रूप से संश्लेषित प्रतिआक्सीकारकों में मुख्य प्रोपाइल गैलेट (PG, E310), टरशरी ब्यूटाइल-हाइड्रोक्वीनोन (TBHQ), ब्यूटीलेटेडहाइड्राक्सीएनिसोल (BHA, E320) एवं ब्यूटाइलेटेड हाइड्रॉक्सीटॉलूइन (BHT, E321) आदि हैं।

खाद्य पदार्थों के आक्सीकरण को रोकने के लिए इन्हें मुहरबंद डिब्बों में भरकर अँधेरे में रखते हैं। कई बार फलों पर मोम की एक पतली परत भी चढ़ा दी जाती है। दूध से निकाली गई क्रीम के आक्सीकरण को रोकने के लिए इथाइल कैफिएट का प्रयोग करते हैं।
अन्त में इस विस्तृत विमर्श का यही सार्थक निष्कर्ष निकलता है जो हिप्पोक्रेटीज़ (400 ई.पू.) ने कहा था- आपका भोजन ही आपकी औषधि हो और आपकी औषधि ही आपका भोजन हो।

(Let your food be your medicine and your medicine be your food)

➢ एसोशिएट प्रोफेसर
रसायन विज्ञान विभाग
सी.एम.पी. डिग्री कॉलेज
इलाहाबाद

HBCSE

भारत की खाद्य-सुरक्षा तथा जैविक खेती

▪ डॉ. गिरीश पाण्डेय

प्रस्तावना

भारत में जैविक खेती का इतिहास काफी प्राचीन है। जैविक खेती का उल्लेख रामायण, महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, वृहत् संहिता, ॠग्वेद, आदि प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। भारत एक कृषि प्रधान देश है जिसकी अर्थव्यवस्था कृषि पर ही आधारित है। भारत में वर्ष 1968 से हरित क्रान्ति की शुरुआत हुई। किसानों ने उन्नत किस्मों, उर्वरकों, रसायनों, जल प्रबंध एवं नवीनतम कृषि तकनीकों के समन्वित प्रयोग से उत्पादन में ज़बरदस्त बढ़ोत्तरी प्राप्त की। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वर्ष 1950-51 में हमारे देश का खाद्यान उत्पादन मात्र 5.0 करोड़ टन था जो बढ़कर वर्ष 2007-08 में 23.67 करोड़ टन हो गया। आंकड़े बताते हैं कि वर्ष 2000 के बाद से देश के खाद्यान्न उत्पादन में ठहराव-सा आया है। इसे हम हरित क्रान्ति का दुष्परिणाम मानते हैं। अतः गहन कृषि प्रणाली में जो समस्याएँ आई हैं उससे खेती की एक नई अवधारणा जैविक खेती, बायोडायनमिक खेती, प्राकृतिक खेती, ॠषि खेती, पर्यावरण मित्रवत खेती को जन्म दिया है। इन सभी खेती का मुख्य सिद्धान्त "हम प्रकृति की ओर लौट चलें" है।

हरित क्रान्ति के दुष्परिणाम

- गहन खेती से मृदा की उर्वरता एवं उत्पादकता में विराम।
- अधिक उपजाई प्रजातियों के उपज में ठहराव/ह्रास।
- निवेश उपयोग क्षमता में गिरावट।
- भौम जलस्तर में लगातार गिरावट।
- पोषक तत्वों के स्तर में लगातार गिरावट।
- द्वितीयक पोषक तत्वों एवं सूक्ष्म पोषक तत्वों की कमी-गंधक, जिंक, बोरॉन, लोह, मैंगनीज़, मॉलिब्डिनम के साथ-साथ मुख्य पोषक तत्व नाइट्रोजन, फॉस्फोरस एवं पोटाश की मिट्टियों में बहुतायत कमी।
- भौम जल में नाइट्रेट का संक्रमण।
- कीट एवं बीमारियों के प्रतिरोधक क्षमता में कमी।
- मृदा में भारी तत्वों, आर्सेनिक, सीसा एवं कैड्मियम का एकत्रीकरण।
- पीड़कनाशी दवाओं का अवशेष खाद्य पदार्थों, दूध, फलों तथा

सब्ज़ियों में पाया जाना।

- जैव विविधता का ह्रास।
- मृदा एवं पर्यावरण प्रदूषण।

भारत एक नज़र में (2007-2008)

• कुल भौगोलिक क्षेत्रफल (मिलियन हेक्टेयर)	:	328.73
• शुद्ध बोया गया क्षेत्रफल (मिलियन हेक्टेयर)	:	124.44
• जनसंख्या (मिलियन)	:	1136.50
• खाद्यान्न उत्पन्न (मिलयन टन)	:	230.67
• प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता (ग्राम/दिन)	:	439.30
• उर्वरक उपभोग (पोषक तत्व के रूप में) (मिलियन टन)	:	22.57
• उर्वरक उपभोग कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर	:	116.5
• उर्वरक उपभोग अनुपात	:	N, P_2O_5, K_2O
आदर्श अनुपात N, P_2O_5, K_2O (4 :2 :1 के सापेक्ष)	:	5.5 :2.1 :1.0
• पीड़कनाशी उपभोग किग्रा/हेक्टेयर	:	0.480

जैविक खेती

जैविक खेती

जैविक खेती एक ऐसी कृषि प्रणाली है जिसमें कृत्रिम उर्वरकों, कीटनाशी एवं वृद्धि नियंत्रक रसायनों, रसायन मिश्रित पशु आहारों तथा आनुवंशकीय रूपान्तरित फसलों (जी.एम.क्रॉप्स) के प्रयोग से बचा जाता है या अधिकांशतः इसका प्रयोग वर्जित होता है। जैविक खेती में पूर्णरूपेण फसल अवशेष, पशुओं की खाद, हरी खाद, फसल चक्र में दलहनी फसलों का समावेश, प्रक्षेत्र के अपशिष्ट तथा जैविक कीट नियंत्रण के प्रयोग पर विशेष बल दिया जाता है ताकि मिट्टी की उत्पादकता को टिकाऊ रखा जा सके।

कृषिर्धन्या कृषामर्धा जन्तुनां जीवनम् कृषिः।
हिंसादिदोशयुत्कोपि मुच्यते ऽ तिथि पूजनात।।

मृदा में सूक्ष्मजीव ही किसानों के जीवन आधार हैं। खेत की जुताई के

HBCSE

समय ये जीव मर जाते हैं। विश्व को सम्पोषित करने के लिए खाद्यान्न उत्पादन हमारा प्रमुख कर्तव्य है। अत: सूक्ष्मजीवों को मारने जैसे पापयुक्त कर्म से हम मुक्त हों।

कृषि परासर स्मृति-8

जैविक खेती के विभिन्न अवयव

बायो-डायनामिक खेती

- आस्ट्रिया के मशहूर वैज्ञानिक डॉ.रूडोल्फ स्टेनर (1922) द्वारा बायो डायनामिक खेती का विकास किया गया। बायो-डायनामिक एक ग्रीक शब्द है, जिसमें बायों का अर्थ जीवन एवं डायनामिक का अर्थ ऊर्जा। अत: इसका शाब्दिक अर्थ जीवन ऊर्जा है।

परिभाषा : "बायो-डायनामिक खेती एक ऐसी पद्धति है जिसमें प्रकृति के पांचों तत्वों- पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश का समुचित प्रयोग करते हुए मृदा, पौधों एवं जानवरों के स्वास्थ्य को बनाए रखना है ताकि उनसे अधिक से अधिक उत्पादन लिया जा सकें।

जो राष्ट्र अपनी मिट्टी को बरबाद करता है वह खुद ही बरबाद हो जाता है।

- फ्रैंकलिन डी रूज़वेल्ट

HBCSE

भारत में जैविक खेती की संभावना

- भारत की जलवायु (वर्षा 100-1000 मिमी. प्रति वर्ष) पारम्परिक कृषि पद्धति का बृहत ढांचा, जंगल, बृहत शुष्क एवं वारानी क्षेत्रफल (60 प्रतिशत), पर्वतीय एवं जनजाति क्षेत्र जहां अब भी जैविक खेती की प्रबल सम्भावना है। ऐसे क्षेत्रों में अब भी रसायनों/उर्वरकों का लेशमात्र प्रयोग होता है या नहीं होता है।
- भारत में 70 ऐसे जनपद है जहां पर 25.0 किग्रा प्रति हे. एन.पी.के. का इस्तेमाल हो रहा है अत: ये क्षेत्र अब भी जैविक

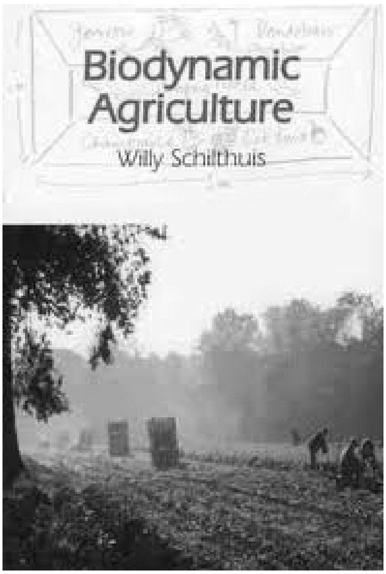

बायो-डायनामिक खेती

खेती के लिए उपयुक्त हैं। ये जनपद हैं- आसाम (10), झारखण्ड (5), हिमांचल प्रदेश (2), उत्तर प्रदेश (8), उत्तरांचल (8), मध्यप्रदेश (7), छत्तीसगढ़ (1), राजस्थान (13) एवं उत्तरी पूर्वी क्षेत्र के समस्त जनपद।

- बारानी क्षेत्र में 60 प्रतिशत शुद्ध बोये जाने वाला क्षेत्र है जिसमें 90 प्रतिशत मोटे अनाज, 90 प्रतिशत दलहन, 85 प्रतिशत तिलहन एवं 65 प्रतिशत कपास की खेती होती है। ऐसे क्षेत्रों में जैविक खेती की काफी गुजांइश है।
- कम आयतन एवं अधिक मूल्य वाली फसलें-सब्जी, फल, मसाले, सगंध एवं औषधीय फसलों को जैविक खेती के अन्तर्गत लाने से अधिक मुनाफा मिलेगा।
- जैविक खेती के महत्व को देखते हुए भारत सरकार ने उत्तराखंड एवं सिक्किम राज्य को जैविक राज्य घोषित किया गया है।

भारत में जैविक खेती के प्रोत्साहन के लिए सरकार द्वारा की गयी पहल

- वर्ष 2000 में कृषि एवं सहकारिता विभाग, कृषि मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा एक टास्क फोर्स का गठन किया गया। इस टास्क फोर्स ने जैविक खेती की एक राष्ट्रीय संस्था की स्थापना के लिए संस्तुति दी।
- वर्ष 2000 में ही योजना आयोग, भारत सरकार द्वारा, 10वीं पंचवर्षीय योजना में कृषि के लिए एक संचालन समिति डॉ. एम.एस. स्वामीनाथन के अध्यक्षता में गठित की गयी। इस समिति ने निम्न संस्तुतियां दीं।
  - उत्तरी पूर्वी क्षेत्र, बारानी क्षेत्र जहां अब भी कृषि रसायनों का प्रयोग कम है या नहीं है ऐसे क्षेत्रों में जैविक खेती को प्रोत्साहन दिया जाये।
  - जैविक उत्पादों के प्रोत्साहन के लिए जैविक खेती पर योजनायें प्रतिपादित की जाएँ।
- वाणिज्य मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा अप्रैल 2000 में नेशनल प्रोग्राम फार आरगैनिक फार्मिंग (एन.पी.ओ.पी.) की स्थापना की गयी एवं एपेडा (एग्रीकल्चर प्रोसेस्ड फूड प्रोडक्शन एक्सपोर्ट) को इस कार्यक्रम को क्रियान्वित करने की जिम्मेदारी दी गयी। एन.पी.ओ.पी. के अन्तर्गत निम्न बिन्दुओं पर विशेष बल दिया गया-
  - जैविक उत्पादों एवं उसके प्रसंस्करण के बाद निर्यात के लिए नेशनल स्टैण्डर्ड फार ऑरगैनिक प्रोडक्ट्स

(एन.एस.ओ.पी.) की स्थापना।

- जैविक उत्पादों के प्रमाणीकरण/मान्यता दिलाने के लिए प्रत्यापन संस्था की स्थापना।
- प्रमाणीकरण संस्थाओं की स्थापना।
- उत्पादों के निर्यात के लिए भारतीय जैविक लोगों (शब्द-चिन्ह) को प्रोत्साहन।

- वर्ष 2004 में 10वीं पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा देश में जैविक खेती पर राष्ट्रीय परियोजना 57.05 करोड़ की लागत से आरम्भ की गयी।
- भारत में जैविक खेती पर राष्ट्रीय/क्षेत्रीय केन्द्रों की स्थापना।
- कृषि मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) के सहयोग से तकनीकी सहायता कार्यक्रम में भाग लेना। TCP/IND/3003 तकनीकी सामर्थ्य विकास आधार, भारत में जैविक खेती के प्रोत्साहन के लिए-
  - जैविक खेती की सघन पद्धतियों का विकास।
  - जैविक खेती के लिए आधारभूत आंकड़ों का संकलन।
  - वैकल्पिक प्रमाणीकरण पद्धतियों (Participatory Guarantee System-PGS) का विकास।

जैविक प्रमाणीकरण

- जैविक प्रमाणीकरण ऐसी क्रिया विधि है जिसमें किसानों की सत्यनिष्ठा प्रलेखन, अंतरंग नियंत्रण पद्धति का प्रयोग, सघन पद्धतियां, भूमि उर्वरीकरण के तरीके एवं विकास, कीट नियंत्रण (बिना रसायनों के प्रयोग से, किसानों से) उपभोक्ता के बीच में निवेशों की उपलब्धता पर विशेष बल दिया जाता है।
- तृतीय समूह निरीक्षण में प्रमाणीकरण एवं चिन्हीकरण, विश्वसनीयता एवं उपभोक्ता प्रतिग्रहण वृद्धिकरण पर भी बल दिया जाता है।

भारत में जैविक उत्पादों की अधिकृत संस्थाएं

- INDOCERT (इन्डोसर्ट) - कोचीन
- SKAL (स्काल) - बंगलौर
- IMO CONTROL (आई.एम.ओ. कन्ट्रोल) - बंगलौर
- INCOCERT इन्कोसर्ट - औरंगाबाद
- NOCA नोका - पुणे

- ONE CERT ASIA वनसर्ट एशिया - जयपुर
- BIO INSPECTA बायो इन्सपेक्टा - कोचीन
- SGS (एस.जी.एस.) - कोचीन
- LACON (लेकॉन) - कोची
- USOCA (यूसोका) - उत्तराखंड
- BVQU (बीवीक्यूयू) - पुणे

विश्व में जैविक खेती का स्तर

- जैविक खेती में लगे हुए विश्व के देश - 100
- जैविक खेती के अन्तर्गत क्षेत्रफल - 24.0
  (मिलियन हे.) एस.ओ.ई.एल. (2004) के अनुसार
- एस.ओ.ई.एल. 2005 के अनुसार - 26.0
- जैविक खेती में लगे हुए विश्व के
  प्रमुख देश और उनके क्षेत्रफल (%)
  कुल जैविक खेती के सापेक्ष
  - आस्ट्रेलिया/आशिआनिया - 42.0
  - अमेरिका - 24.20
  - यूनाइटेड किंगडम - 23.00
- विभिन्न जैविक उत्पाद के निर्यात से - 26.0
  आमदनी अमेरिकन अरब डालर 2004-05
- विभिन्न जैविक उत्पाद के निर्यात से वर्ष 2009-10
  में होने वाली आमदनी (अमेरिकन अरब डालर में) - 100.00

विश्व के प्रमुख देश में जैविक खेती के अन्तर्गत क्षेत्रफल

क्र.सं.	देश	जैविक खेती के अन्तर्गत क्षेत्रफल	कुल कृषि क्षेत्रफल का प्रतिशत	जैविक प्रक्षेत्रों की संख्या
1	ऑस्ट्रेलिया	10.0000	2.20	1380
2	अर्जेन्टीना	02.9600	1.70	1779
3	अमेरिका	0.9500	0.23	6949
4	यू.के.	0.7245	4.22	4069
5	जर्मनी	0.6969	4.10	15628
6	दक्षिण अफ्रीका	0.0045	0.05	250

	चीन			
7	जापान	0.3012	0.06	2910
8	भारत	0.0005	0.10	-
9	पाकिस्तान	0.0370	0.03	5147
10	श्रीलंका	0.0002	0.08	405
11		0.0015	0.65	3301
	पूरा विश्व	24.0700	1.60	462475

(स्रोत : एस.ओ.ई.एल. सर्वेक्षण, 2004)

- **भारत में मुख्य फसलें जिनका जैविक उत्पादन किया जा रहा है।**
- खाद्यान्न : धान, गेहूँ, मक्का
- दलहन : अरहर, उर्द, मूंग, चना
- मसाले : काली मिर्च, इलायची, अरदक, हल्दी, लौंग, वनीला
- सब्जी : भिन्डी, बैगन, टमाटर, आलू, प्याज, लहसुन
- फल : आम, केला, अनन्नास, अंगूर, संतरा, काजू
- उपयोगी जिन्स : चाय, कॉफी
- नगदी फसल : कपास

भारत में जैविक खेती का स्तर

- प्रमाणित जैविक खेती के अन्तर्गत क्षेत्रफल मिलियन हे. में वन क्षेत्र को लेकर : 2-5
- कुल प्रमाणित उत्पाद (मेट्रिक टन) : 115,238
- कुल प्रमाणित परियोजना : 332
- कुल प्रसंस्करण इकाइयां : 158
- अधिकृत निरीक्षण प्रमाणीकरण संस्थाएँ : 11
- निर्यात की जाने वाली उत्पादों की संख्या : 35
- भारत में कुल जैविक उत्पाद का निर्यात : 6472 मे.ट.
- जैविक निर्यात से कुल आमदनी (2003-2004) : 95 करोड़
- वर्तमान में जैविक उत्पाद का निर्यात से कुल आमदनी : 100 करोड़

HBSE

भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रमाणित जैविक खेती का क्षेत्रफल

क्र.सं.	**प्रदेश**	**क्षेत्रफल(हे.)**
1.	आन्ध्र प्रदेश	1661.42
2.	अरुणाचल प्रदेश	557.76
3.	आसाम	1817.50
4.	छत्तीसगढ़	293.16
5.	दिल्ली	1658.71
6.	गोवा	5555.07
7.	गुजरात	1627.06
8.	हरियाणा	3437.52
9.	जम्मू एवं कश्मीर	22315.92
10.	झारखण्ड	5.0
11.	कर्नाटक	4117.17
12.	केरल	15474.47
13.	मणिपुर	347.65
14.	महाराष्ट्र	18786.69
15.	मध्य प्रदेश	16581.37
16.	मिजोरम	300.40
17.	मेघालय	378.89
18.	नागालैण्ड	718.76
19.	उड़ीसा	26387.86
20.	पंजाब	3779.31
21.	राजस्थान	22104.91
22.	सिक्किम	177.64
23.	त्रिपुरा	20.87
24.	तमिलनाडु	5423.63
25.	उत्तर प्रदेश	3033.97
26.	उत्तराखंड	5915.89
27.	प.बंगाल	6732.43
28.	अन्य	824.73

स्रोत : राष्ट्रीय कार्यक्रम जैविक खेती (NDOF)- 2007

कुल योग : 173682-50

भारत में जनसंख्या वृद्धि एवं खाद्यान्न आवश्यकता

किसी भी राष्ट्र की यह सबसे बड़ी आवश्यकता है कि वह अपने देश के लोगों को भरपेट भोजन उपलब्ध करा सके। अगर हम कृषि परिदृश्य पर एक नजर डालें तो वर्ष 2025 में भारत की जनसंख्या लगभग 1.5 अरब हो जाएगी जिसकी उदरपूर्ति के लिए हमें लगभग 42 करोड़ टन खाद्यान के उत्पादन की आवश्यकता पड़ेगी। अत: हमें मौजूदा उत्पादन 21.3 करोड़ को 42.0 करोड़ टन करना पड़ेगा। यदि उत्पादन में अजैविक स्रोतों को छोड़कर जैविक स्रोतों का ही इस्तेमाल करना हो तो हमें देश को भौगोलिक क्षेत्रफल से अधिक जमीन की आवश्यकता पड़ेगी जो एक जटिल प्रश्न है।

भारत में जनसंख्या वृद्धि एवं खाद्यान्न जरूरतों का आकलन (2001-2025)

विवरण/झुकाव	**2001**	**2011**	**2021**	**2025**
		जनसंख्या मिलियन		
अधिक	1032	1267	1542	1690
कम	1032	1237	1429	1504
		खाद्यान्न की आवश्यकता (मिलियन टन)		
अधिक	206	315	385	423
कम	206	253	308	338

स्रोत : सेखों (1997)

भारत एक अल्प पोषित देश

- वर्ष 2006-07 में हमारे देश की प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता मात्र 179 किलोग्राम थी जबकि अमेरिका में 900 एवं यूनाइटेड किंगडम में 522 किलोग्राम थी। दूसरे शब्दों में अमेरिका की तुलना में हमारी प्रति व्यक्ति वार्षिक खाद्यान उपलब्धता 1/5 है तथा यू0के0 की तुलना में 1/3 है। अत: इस स्थिति में हमारा देश अब भी अल्प पोषित है। देश की 22-23 प्रतिशत आबादी अब भी गरीबी रेखा के नीचे है जिसे दो वक्त की रोटी भी नसीब नहीं होती है।

HBCSE

देश/क्षेत्र	संख्या(मिलियन में)
विकासशील देश	83.2
विकसित देश	1.6
भारत	23.1
उत्तरी अमेरिका	3.3
लातिनी अमेरिका और कैरेवियाई देश	4.5
चीन	12.3
एशिया एवं प्रशांत (चीन और भारत को छोड़कर)	18.9
सब सहारा अफ्रीका	21.2

स्रोत : खाद्य एवं कृषि संगठन रिपोर्ट (2009)

- भारत में कुपोषण का संकट दक्षिणी अफ्रीका की तुलना में कहीं ज्यादा है। भारत का हर दूसरा बच्चा कुपोषित है। प्रत्येक दिन 5000 बच्चे कुपोषण के शिकार होते हैं। (यूनिसेफ रिर्पोट)

वर्ष 1961-2007 से प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता (ग्राम में)

स्रोत : कृषि मंत्रालय भारत सरकार के कृषि सम्बन्धी आकड़े एक नजर में

उपरोक्त रेखा चित्र से यह स्पष्ट है कि प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता घटती जा रही है। जहाँ वर्ष 1961 प्रतिव्यक्ति 468.7 ग्राम खाद्यान्न उपलब्धता थी वही वर्ष 2007 में घटकर 439.3 ग्राम हो गई जो हरित क्रान्ति में खाद्यान्न आत्मनिर्भरता की कलई खोलती है।

भारत में अजैविक व जैविक स्रोतों का स्तर

- वर्ष 2000 में उर्वरक द्वारा मिट्टी में पोषक तत्वों का संवर्धन लगभग 1.8 करोड़ टन तथा फसलों द्वारा निष्कासन 2.8 करोड़ टन था इस तरह प्रत्येक वर्ष मिट्टी में 1.0 करोड़ टन पोषक तत्वों ऋणात्मक संतुलन था। वर्ष 2020 में भूमि में उर्वरकों द्वारा पोषक तत्वों का सम्वर्धन 2.96 करोड़ टन तथा फसलों द्वारा निष्कासन 3.75 करोड़ टन होगा तथा भूमि में लगभग 0.81 करोड़ टन पोषक तत्वों का ऋणात्मक संतुलन बना रहेगा।
- वर्तमान में हमारे देश में विभिन्न जैविक स्रोतों से पोषक तत्वों की पूर्ति 0.67 करोड़ टन है, जो 2025 में 0.78 करोड़ टन हो जायेगी।
- अतः किसी भी तरह जैविक स्रोतो से मात्र 25 प्रतिशत पोषक तत्वों की पूर्ति हो पाएगी। शेष 75 प्रतिशत पोषक तत्वों की

उपलब्धता के लिए हमें अजैविक स्रोतों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा।

- अत: भविष्य में मृदा उत्पादकता एवं उर्वरता में टिकाऊपन लाने के लिए हमें जैविक एवं अजैविक स्रोतों के समन्वित प्रयोग पर बल देना पड़ेगा तभी हमें पोषक तत्वों के ऋणात्मक अंतराल को पूरा कर पाएँगे।

भारत में जैविक संसाधनों का स्तर (तत्व के रूप में)
जैविक निवेश: हरी खाद, फसल अवशेष, गोबर की खाद, के रूप कम्पोस्ट, वर्मी कम्पोस्ट

क्षमता स्तर	**वर्तमान उपलब्धता**	**पोषक तत्व (एन.पी.के.) (मिलियन टन में)**
हरी खाद = 2.2 मि. हे.	20 मि.हे.	1.0
गोबर खाद = 500 मि.टन	100 मि. टन	1.50
फसल अवशेष = 300 मि. टन	100 मि.टन	1.50
कम्पोस्ट ग्रामीण = 285 मि.टन	134 मि. टन	2.00
वाहित मल एवं अवमल= 14 मि.टन	1.5 मि. टन	0.20
गोबर गैस पंक = 28 मि. टन		0.30
जैव उर्वरक= 10000 मि. टन	7.0 मि. टन 10000 टन	0.24
	362.50 मि. टन	6.74

HBCSE

औसत पोषक तत्वों की मात्रा

0.5-2.0% N

0.5-1.0% P_2O_5

1.5-2.0% K_2O

उर्वरक उपभोग (पोषक तत्व)

वर्ष	उपभोग
2007-8	22.57 मि.टन

स्रोत :- राष्ट्रीय जैविक खेती केन्द्र, फरीदाबाद (2005)

जैविक खेती एवं फसल उत्पादकता

- प्राय: जैविक खेती में परम्परागत खेती की तुलना में 30-50

प्रतिशत उपज घट जाती है। उपज में ह्रास फसल के प्रकार, खेती की पद्धति पर निर्भर करती है। अधिक उपजाऊ प्रजातियों को पोषक तत्वों की आवश्यकता अधिक होती है। खाद्यान्न फसलों में, दलहन एवं सब्जी वाली फसलों की अपेक्षा उपज में अधिक ह्रास होता है। असिंचित क्षेत्रों में भी उत्पादन की ह्रास दर सिंचित क्षेत्रों की तुलना में अधिक होती है। अगर हम जैविक खेती पद्धति में वर्तमान खाद्यान्न उत्पादन स्तर बनाए रखना चाहते है तो देश में उपलब्ध भौगोलिक क्षेत्र से भी अधिक जमीन की आवश्यकता पड़ेगी।

जैविक खेती बनाम परम्परागत खेती में प्राप्त उत्पादन एवं शुद्ध आमदनी

वर्ष	स्तर	उत्पादन कु./हे.	कुल आय (रु.)	अधिक मूल्य (रु.)	कुल (रु.)	शुद्ध लाभ (रु.)	परम्परागत की तुलना ह्रास
परम्परागत	-	10	20000	0	20000	9000	0
प्रथम वर्ष	परिवर्तनवर्ष	5	10000	0	10000	750	-8250
द्वितीय वर्ष	परिवर्तनवर्ष	5.75	11250	0	11250	3750	-5250
तृतीय वर्ष	जैविक	6.25	12250	2000	15000	7000	-1500
चतुर्थ वर्ष	जैविक	7.50	15000	3000	18000	10500	1500
पंचम वर्ष	जैविक	8.75	17500	3500	21000	13500	4500
षष्टम वर्ष	जैविक	10.00	20000	4000	24000	16500	75000

स्रोत- इन्डियन जर्नल ऑफ फर्टिलाइजर 1(19) दिसंबर, 2005

- परीक्षण में पाया गया कि लगातार जैविक स्रोतों से खाद देने से मृदा के गुणवत्ता में सुधार हुआ तथा जैविक खाद में पोषकतत्वों का ह्रास उर्वरकों की अपेक्षा बहुत कम था। जैविक खेती के प्रमाणीकरण में इस बात की हिदायत दी जाती है कि जो भी जैविक स्रोत हो वह प्रक्षेत्र के

जैविक स्रोत

ही हो। प्रक्षेत्र के बाहर के स्रोतों के प्रयोग से प्रदूषकों के संक्रमण की संभावना रहती है।

जैविक उत्पादों का विश्व बाजार

- जैविक उत्पादों के उत्पादन एवं उनके विश्व बाजार में मूल्यों की तरफ ध्यान दें तो बिलकुल स्पष्ट है कि जैविक उत्पादों का विश्व बाजार में बहुत मांग है। इन उत्पादों का अच्छा मूल्य मिलता है जो वर्तमान कृषि प्रणाली के उत्पादों से सम्भव नहीं है। क्योंकि इनमें अनेक हानिकारक रसायनों एवं भारी तत्वों के अवशेष पाए जाते हैं। वर्तमान में विश्व में 102 अरब अमेरिकी डालर की जैविक उत्पादों की खरीद-फरोख्त होती है। भारत में विभिन्न जैविक खादों की सुगम्य क्षमता 5620 मि. की है तथा बाजार क्षमता 14520 मि. है।

भारत में जैविक खाद्यों का विपणन

उत्पादक	सुगम्य क्षमता		बाज़ार क्षमता	
	रु. मिलियन	प्रतिशत	रु. मिलियन	प्रतिशत
सब्ज़ियाँ	1030	18	3220	22
फल	710	13	2460	17
दूध	520	9	1660	11
दुग्ध उत्पाद	500	9	1110	8
बेकरी उत्पाद	480	9	1860	13
तेल	320	6	590	4
चावल	270	5	460	3
तैयार भोज्य (रेडी टू	260	5	360	2
ईट)	250	5	4700	3
गेहूँ आटा	220	4	560	4
हल्का नाश्ता (स्नैक्स)	220	4	300	2
जमा हुआ खाद्य	180	3	320	2
दाल	170	3	230	2
बंद खाद्य	170	3	340	2
स्वास्थ्य पेय	120	2	230	2
चाय	100	2	170	1
कॉफी	50	1	20	1

HBCSE

इलायची	40	1	80	1
मसाले	28	0	48	0
चीनी	0.1	0	0.30	0
शिशु खाद्य (बेबी फूड)	5620	100	14520	100
कुल योग				

राव एवं अन्य मार्केट फॉर आरगैनिक फूड्स इन इंडिया

- भारत के प्रमुख 8 महानगरों के सर्वेक्षण के अनुसार
- उपभोक्ता की सबसे अधिक वरीयता जैविक ताजी सब्जियों एवं फलों के लिए तत्पश्चात दूध एवं दुग्ध पदार्थ के लिए था।

जैविक खेती पर कल्पित विचार धारा

- जैविक खेती का मुख्य उद्देश्य कृषि उत्पादकता में टिकाऊपन के साथ-साथ पर्यावरण में भी संतुलन बनाए रखना है। जैविक आन्दोलन में लगे हुए लोगों का मानना है कि जैविक उत्पादों का स्वाद अच्छा होता है एवं बेहतरीन गुणवत्ता वाला होता है। इन उत्पादों में पोषक तत्वों की मात्रा अधिक होती है। जैविक खेती पर्यावरणीय मित्रवत होता है तथा जैविक खेती से मिट्टी की उर्वरता में सुधार होता है। इन सभी तथ्यों पर कृषि वैज्ञानिक एवं जैविक आन्दोलन में लगे स्वयंसेवी संस्थाओं के बीच एक लम्बी बहस छिड़ी हुई है। जब तक इन पहलुओं पर तथ्यपरक शोध नहीं हो जाता, तब तक कुछ भी कहना मुश्किल है।

HBCSE

जैविक खाद्य किसी व्यक्ति विशेष या उद्यमों की रुचि पर निर्भर करता है। यदि कोई व्यक्ति जैविक खेती व्यावसायिक विचार/या अधिक आमदनी लेने के लिए करता है तो वह ऐसा करने के लिए स्वतंत्र है। जैविक खेती एक विपणन औजार है जो पारम्परिक खेती का स्थान खाद्य सुरक्षा के दृष्टिकोण से नहीं ले सकता। अत: बढ़ती हुई जनसंख्या के उदर पोषण एवं खाद्य सुरक्षा के लिए जैविक खेती कर हम जोखिम नहीं ले सकते।

जैविक खेती के सम्बन्ध में सुझाव

घरेलू जैविक बाजार का विकास।

वैकल्पिक प्रमाणीकरण पद्धति का विकास।

समन्वित पोषक तत्व प्रबंधन को प्रोत्साहन।
हरे खाद्यान्न एवं उसके प्रमाणीकरण के मानकों को प्रोत्साहन।
जैविक खेती के ऐसे समीपस्थ क्षेत्रों का चिन्हीकरण जहां रासायनिक निवेशों का कम से कम प्रयोग हो रहा है या नहीं हो रहा है।
संस्तुत निवेशों के प्रयोग से उत्पादन को बढ़ाने का प्रोत्साहन जिससे किसान समूह के उत्पादों का प्रमाणीकरण किया जा सके।
जैविक उत्पादों का मानव एवं पादप स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभावों का गहराई से अध्ययन।
जैविक खेती के बारे में किसानों को विभिन्न प्रचार-प्रसार माध्यम, आकाशवाणी, दूरदर्शन, ई-लर्निंग द्वारा जागरूक करना।

निष्कर्ष

अतिसम्पन्न क्षेत्रों में जहां धान, गेहूं एवं नगदी फसलों की खेती हो रही है जो हमारे लिए अनिवार्य खाद्यान्न हैं, उन क्षेत्रों में जैविक एवं अजैविक स्रोतों के समन्वित प्रयोग पर बल देने की आवश्यकता है। इससे पोषक तत्वों के प्रबंधन के साथ-साथ देश की खाद्य सुरक्षा को भी कायम रखा जा सकता है।

अतिविपन्न क्षेत्रों- असिंचित, बारानी, शुष्क पर्वतीय एवं जनजातियों वाले क्षेत्रों में जहां अब भी उर्वरक उपयोग बहुत कम है या उर्वरक प्रयोग किया नहीं जाता है। ऐसे क्षेत्रों में कम आयतन एवं अधिक मूल्य वाली जैविक उत्पादों-सब्जियों, फलों, मसालों, सगंध एवं औषधिय फसलों, काजू, चाय, काफी, इत्यादि के जैविक खेती पर बल दिया जाय।

जैविक खेती से मृदा एवं पर्यावरण में टिकाऊपन लाया जा सकता है। लेकिन देश की खाद्य सुरक्षा को सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। अतः जैविक खेती के साथ-साथ गहन कृषि प्रौद्योगिकी आधारित खेती पर बल दिए जाने की जरूरत है।

- आज आवश्यकता इस बात की है कि भारत ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व को खाद्य सुरक्षा के साथ-साथ पोषण सुरक्षा पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। इस बात पर विशेष चिंतन की आवश्यकता है कि उत्पादित खाद्यान्न आम आदमी के क्रय शक्ति के अन्तर्गत हो। अतः समय रहते हुए उपरोक्त बिन्दुओं पर ध्यान

नहीं दिया गया तो बढ़ती हुई जनसंख्या का उदर पोषण सुनिश्चित करना हमारे लिए मुश्किल होगा।

- इस क्रम में नीचे दिया गया कथन विचारणीय है।

जैविक खेती विश्व की भुखमरी को दूर करने में सहयोग कर सकती है लेकिन खाद्य सुरक्षा के दृष्टिकोण से परम्परागत खेती का स्थान नहीं ले सकती। हम आज वर्तमान में विश्व की 6 अरब जनसंख्या एवं वर्ष 2050 में तब की 9 अरब जनसंख्या का बिना रासायनिक उर्वरकों के विवेकपूर्ण उपयोग से उदर पोषण नहीं कर सकते।

डॉ- जेम्स डाओउफ
महानिदेशक
खाद्य एवं कृषि संगठन (रोम)

➢ पूर्व प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
मृदा विज्ञान विभाग
नरेन्द्र देव कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
कुमारगंज
फैज़ाबाद (उत्तर प्रदेश)

HBCSE

भूकंप: एक विनाशकारी प्राकृतिक आपदा

■ डॉ. सुबोध महंती

भूकंप एक विनाशकारी प्राकृतिक आपदा है। आमतौर पर एक शक्तिशाली भूकंप का प्रभाव अत्यंत व्यापक क्षेत्र में महसूस किया जाता है और इसके कारण व्यापक तबाही तथा जानमाल की भारी क्षति होती है। भूकंप इतनी तेज़ और आकस्मिक गति से तबाही मचाता है कि लोगों को बचाव का अवसर ही नहीं मिल पाता। भूकंप से पैदा हुई दिसम्बर 2004 की सुनामी तीन लाख से अधिक लोगों की मौत का कारण बनी। इसने भारत सहित कई देशों के तटवर्ती इलाके के शहरों, गाँवों और खेत खलिहानों को पूरी तरह से बर्बाद कर दिया। इससे भूकंप की विध्वंसकारी क्षमता का पता चलता है।

धरती को इस तरह हिलाकर रख देने वाले भूकंप से हर कोई प्रभावित होता है। यहां यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि भूकंप क्यों आते हैं? पृथ्वी पर भूकंप कब से हो रहा है? हमारे पूर्वज भूकंप के बारे में क्या सोचते थे। भूकंप की तीव्रता को कैसे मापा जाता है? क्या भूकंप की भविष्यवाणी की जा सकती है? पृथ्वी की सतह पर कुछ क्षेत्रों पर भूकंप आने की संभावना अधिक क्यों होती है? क्या इमारतों का गिरना रोका जा सकता है? पिछला भूकंप कब आया था? अगला भूकंप कब और कहाँ आएगा? किसी भूकंप के केन्द्र, अधिकेन्द्र से हमारा क्या आशय है? भूकंप किस प्रकार से सुनामी पैदा करते हैं? इनसे होने वाली क्षति को सीमित कैसे किया जा सकता है? इस लेख में इन बातों की चर्चा की गयी है।

HBCSE

भूकंप क्या है?

भूकंप शब्द ही इसके अर्थ को स्पष्ट करता है। भूकंप शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है 'भूमि' (भू) एवं 'कंपन' (कंप) अर्थात भूमि का काँपना। जैसे कि हम जानते हैं कि भूकंप के दौरान भूमि काँप उठती है। भूकंप विज्ञानी भूकंप को इस प्रकार परिभाषित करते हैं; पृथ्वी के भूपटल में उत्पन्न तनाव के आकस्मिक मुक्त होने से धरती की सतह पर कंपन पैदा होने की घटना भूकंप कहलाती है। भूकंप द्वारा उत्पन्न ऊर्जा व्यापक स्तर पर उथल-पुथल करके विस्तृत क्षेत्र में तबाही ला सकती है। जिस बिंदु पर भूकंप उत्पन्न होता है उसे भूकंपी केन्द्रबिंदु (सीस्मिक फोकस) या अंत केन्द्र (हाइपोसेंटर) और उसके ठीक ऊपर पृथ्वी की सतह पर स्थित

बिंदु को अधिकेन्द्र (एपिसेंटर) के नाम से जाना जाता है। अधिकेन्द्र की स्थिति उस स्थान के अक्षाशों (लैटिट्यूड) और देशांतरों (लाँगिट्यूड) के द्वारा व्यक्त किया जाता है।

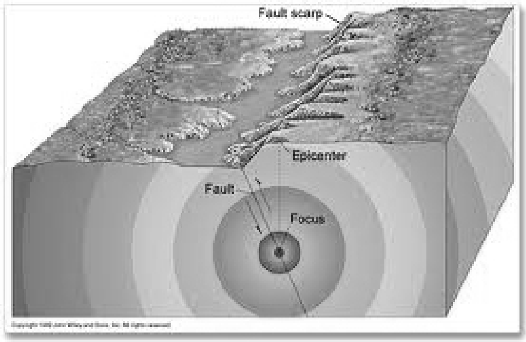

भूकंप

भूकंप के केंद्र बिंदु अधिकेंद्र एवं अधिकेंद्रिक क्षेत्र

किसी भूकंप का अधिकेंद्र जब 70 कि.मी. से कम होता है तो उसे अगभोर अधिकेंद्र वाले भूकंप कहते हैं। 70 से 300 कि.मी. अधिकेंद्र (शैलो फोकस) गंभीरता वाले भूकंपों को मध्य अधिकेंद्र (मिड फोकस) या माध्यमिक-गंभीरता (इंटरमीडिएट डेप्थ) वाले भूकंप कहते हैं। कभी कभी भूकंप के अधिकेंद्र की गंभीरता काफी अधिक होती है करीब 300 कि.मी. तक। किसी बड़े भूकंप के पहले अथवा बाद में विभिन्न तीव्रता वाले कंपन उत्पन्न होते हैं। इस परिघटना के लिए भूकंप-विज्ञानी तीन शब्दों पूर्ववर्ती आघात (फोरशॉक) मुख्य आघात (मेनशॉक) और पश्चवर्ती आघात (आफ्टर शॉक) का प्रयोग करते हैं। भूकंप समूह के सबसे बड़े भूकंप को ही मुख्य आघात कहते हैं। इससे पहले के कंपनों को पूर्ववर्ती आघात और उसके बाद के कंपनों को पश्चवर्ती आघात कहते हैं।

छोटे भूकंपों के दौरान भूमि कुछ सेकेण्ड तक कांपती है, लेकिन बड़े भूकंपों में यह अवधि एक मिनट से भी अधिक हो सकती है। सन 1964 में अलास्का में आए भूकंप के दौरान धरती लगभग तीन मिनट तक कांपती रही।

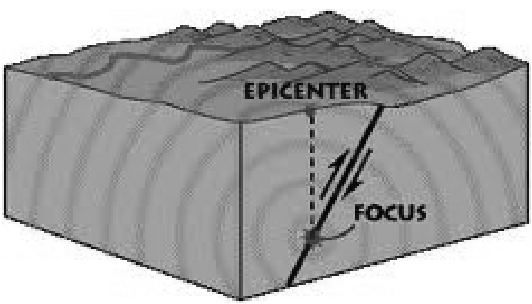

बिंदु अधिकेंद्र

भूकंप होना कोई असामान्य घटना नहीं है। विश्व में एक अनुमान के अनुसार लगभग हर 8.7 सेकेण्ड में विश्व में कहीं न कहीं धरती कांप उठती है। मगर धरती में हज़ारों भूकंपों होते हैं। हर साल इन झटकों को महसूस तो किया जाता है, पर ये इतने शक्तिशाली नहीं होते कि उनसे किसी प्रकार की क्षति हो सके। हर साल पृथ्वी पर औसतन ऐसे 1319 भूकंप आते हैं, जिनका परिमाण रिक्टर स्केल पर 5.0 से 5.9 तक होता है, लेकिन इनसे किसी प्रकार की क्षति नहीं होती। इनके अलावा पृथ्वी पर प्रति वर्ष औसतन 17 बड़े भूकंप आते हैं जिनका रिक्टर स्केल पर परिमाण 7.0 से 7.9 तक होता है। हर साल धरती पर एक प्रबल भूकंप आता है। इनमें से अधिकतर भूकंप निर्जन स्थानों में आते हैं।

लेकिन वैज्ञानिक दृष्टि से आसामान्य भूकंप भी आते हैं। उदाहरण के तौर पर न्यू मैड्रिड में सात सप्ताह के अन्दर 16 दिसम्बर, 1881, 7 फरवरी और 23 फरवरी, 1882 के मध्य एक के बाद एक तीन भूकंप आए। यह स्थान अमेरिका में मिसौरी के निकट है। 22 जनवरी 1988 को टेनांट क्रीक आस्ट्रेलिया में 12 घंटे के अंदर 6 से अधिक परिमाण वाले तीन भूकंप आए।

विश्व भूकंप आवृत्ति	
परिमाण	**वार्षिक औसत**
8 या अधिक	1
7-0 - 7-9	17
6-0 - 6-9	134
5-0 - 5-9	1319
4-0 - 4-9	13,000
3-0 - 3-9	130,000
2-0 - 2-9	1,300,000
(स्रोत : यू एस जिओलॉजिकल सर्वे)	

भूकंप के दौरान पहले एक हल्का सा झटका महसूस होता है। फिर कुछ पल तक शांति रहती है। और उसके बाद एक लहरदार या झटकेदार कंपन महसूस होता है जो पहले लगे झटके से अधिक शक्तिशाली होता है।

छोटे भूकंपों में धरती केवल कुछ सेकेंड तक कांपती है। पर बड़े भूकंपों में यह अवधि एक मिनट से भी अधिक हो सकती है। सन् 1964 में अलास्का में आए 9.2 तीव्रता वाले भूकंप के दौरान जमीन लगभग तीन मिनट तक हिलती रही। भूकंप के कारण जमीन के हिलने की अवधि कई कारणों, मसलन अधिकेन्द्र से दूरी, भूमि की स्थिति और यदि कोई इमारत पर खड़ा हो, तो भवन की ऊंचाई और उसके निर्माण में प्रयुक्त सामग्री की प्रकृति पर निर्भर करती है।

भूकंप कैसे पैदा होते हैं ?

अपने भयानक विनाशकारी प्रभावों के कारण भूकंप आख्यानों और मिथकों का विषय रहा है। वैज्ञानिक आधार के बिना प्राचीन मानव ने भूकंप की व्याख्या करने के लिए तरह-तरह की कल्पनाएं कीं। नार्स या स्केंडिनेवियन की पौराणिक कथा के अनुसार कलह और बुराई के देवता 'लोकी' के प्रचंड संघर्ष के कारण भूकंप आता है। लोकी को सुंदरता और प्रकाश के देवता बालडर को मारने के कारण उसे कसकर बांधकर एक जहरीले सांप के साथ एक गुफा के अंदर कैद कर दिया जाता है जहां सांप लोकी के सिर पर जहर छोड़ता रहता है। लोकी के पास उसकी पत्नी एक प्याला लिए खड़ी होती है जिससे लोकी के चेहरे पर सांप का जहर न टपके। सांप के जहर से प्यालों के भर जाने पर जब उसकी पत्नी प्याला खाली करने के लिए हटती है तब जहर लोकी के चेहरे पर टपकता है एवं लोकी झटके से अपना सिर हिलाकर जहर से बचने का प्रयास करने के साथ छटपटाता भी है। लोकी के ऐसा करने के कारण धरती कांप उठती है अर्थात भूकंप आता है।

यूनानी पौराणिक कथा के अनुसार जब धरती पर कुछ बुरा घटता है तब देवता जीयस दण्ड के रूप में बिजली गिराते हैं जिससे धरती कांप उठती है। एक जापानी किंवदन्ती के अनुसार भूकंप के लिए धरती के अंदर रहने वाली मांजू नामक विशाल कैटफिश जिम्मेदार है। सन् 350 ईसा पूर्व महान ग्रीक दाशर्निक, विचारक एवं वैज्ञानिक अरस्तू (384 ई.पू.-322 ई.पू.) ने भूकंप के संबंध में यह विचार प्रस्तुत किया था कि भूमिगत गुफाओं में हवाओं के बहने के कारण भूकंप आता है। ओविड (43 ई.पू.-17 ईसवी) नामक रोमन कवि के अनुसार पृथ्वी का सूर्य के अत्यंत समीप आना भूकंप का कारण है। इस स्थिति में सूर्य की विस्मयकारी विकिरणों के कारण धरती कांप उठती है।

प्राचीन भारत में ऐसा माना जाता था कि पृथ्वी एक कछुए की पीठ

पर खड़े चार हाथियों पर टिकी है और यह कछुआ भी एक सांप के फन पर संतुलन बनाए खड़ा है। जब इनमें से कोई जानवर हिलता है तब धरती के कंपित होने के कारण भूकंप आता है। एक अन्य मान्यता के अनुसार पृथ्वी आठ हाथियों के सिरों पर टिकी है और जब इनमें से कोई एक थक कर अपना सिर हिलाता है तब भूकंप आता है।

अब हम जानते हैं कि भूकंप विवर्तनिक प्लेटों का परिणाम है। हालांकि वैज्ञानिक भूकंप की पूरी प्रक्रिया को अब भी नहीं समझ सके हैं, पर उन्होंने विश्व-स्तर पर भूकंप की स्थानिक और कालिक आवृत्तियों के स्वरूपों की व्याख्या करने की एक पद्धति विकसित कर ली है। किसी भी भूकंप की व्याख्या इस ढंग से की जा सकती है कि पृथ्वी की पपड़ी में (पृथ्वी का कठोर ओर चट्टानी हिस्सा) उत्पन्न तनाव के आकस्मिक उद्गार से पृथ्वी की सतह हिलने लगती है। संभव है कि इसके कारण हल्का सा कंपन ही उत्पन्न हो, पर इसकी वजह से पृथ्वी में व्यापक स्तर पर ऐसी उथल-पुथल भी हो सकती है जो बड़े भूभाग में व्यापक तबाही का कारण बन जाए।

अधिकतर भूकंप भ्रंशों के अगल-बगल जन्म लेते हैं। भ्रंश पृथ्वी की पपड़ी में टूटन या दरार है जिसके अगल-बगल संचलन होता है। यदि इस संचलन की प्रकृति मुख्यतः लंबवत होती है तब दूसरे किनारे से अलग हो जाती है और सामान्य भ्रंश का एक किनारा दूसरे किनारे पर चढ़ जाता है, विलोम भ्रंश या रिवर्स फॉल्ट कहते हैं। छोटे कोण वाला विलोम भ्रंश को थ्रस्ट कहते हैं। पार्श्विक भ्रंश (लैटरल फॉल्ट) भ्रंश होता है। इसमें भ्रंश के दोनों किनारों में एक-दूसरे के अगल-बगल सापेक्ष गति होती है। ये भ्रंश कुछ मि.मी. से कई हज़ार कि.मी. तक लंबे हो सकते हैं। भूगर्भीय कालक्रम के दौरान अधिकतर भ्रंशों का बार-बार विस्थापन होता है।

प्लेटों के विवर्तनिक सिद्धांत (प्लेट विवर्तनिकी) के अनुसार पृथ्वी की बाहरी पर्त यानी उसकी पपड़ी की बनावट बड़ी और छोटी कठोर प्लेटों से बनी चोखटी आरा जैसी होती है। इन प्लेटों की मोटाई सैकड़ों कि.मी. तक हो सकती है। ये एक-दूसरे के सापेक्ष गति करती हैं। ऐसा संभवतः पृथ्वी की ऊपरी खोल के अंदर गतिशील संवहन तरंगों के प्रभाव के कारण होता है। संपूर्ण भू-मंडल की प्रमुख भूकंपीय प्लेटें ये हैं- अंटार्कटिक प्लेट, यूरेशियन प्लेट, आस्ट्रेलियन प्लेट, फिलिपीन प्लेट, जुआन डे फुका प्लेट, नार्थ अमरीकन प्लेट, कैरीबियन प्लेट, नस्का प्लेट, साउथ अमरीकन प्लेट, स्काटिया प्लेट, अरेबियन प्लेट, अफ्रीकन प्लेट और इंडियन प्लेट।

HBCSE

आमतौर पर बड़ी भू-आकृतियाँ इन प्लेटों के किनारों पर स्थित होती हैं। इन स्थानों पर प्लेटें एक-दूसरे से टकरा रही होती हैं अथवा अलग हो रही होती हैं। इन प्लेटों की गति काफी धीमी होती है और कभी-कभी ये एक-दूसरे से सरक जाती है। ज्यादातर भयानक भूकंपे तब आते हैं जब प्लेटें एक दूसरे से मिलती हैं। लेकिन यदा-कदा ऐसा भी होता है कि इनके किनारे एक-दूसरे में फंस जाते हैं और इस कारण दबाव सृजित होता है। नतीजतन प्लेटें एक-दूसरे को झटका देते हुए खिसकती हैं। इस प्रक्रिया में पृथ्वी की पपड़ी फट जाती है परिणामस्वरूप एक बड़ी विकृति जन्म लेती है।

किसी क्षेत्र में एक बार विकृति उत्पन्न हो जाने के बाद वह भूकंपीय दृष्टि से कमजोर हो जाता है। भूकंप, जो वस्तुतः पृथ्वी के अंदर संचित तनाव को बाहर निकालने के माध्यम हैं, सामान्यतः इन विकृतियों के दायरे में ही सीमित रहते हैं। जब पृथ्वी के अंदर का तनाव मौजूदा विकृतियों से दूर स्थित किसी अन्य स्थान पर निस्तारित होता है तो नई विकृतियां जन्म लेती हैं।

महाद्वीपीय अपसरण (ड्रिफ्ट) का सिद्धांत सबसे पहले जर्मन भू-भौतिकी विज्ञानी अल्फ्रेड लूथर वेगनर (सन् 1880-1930) ने सन् 1915 में प्रतिपादित किया था। प्लेट विवर्तनिकी सिद्धांत सर्वप्रथम कनाडा के भू-भौतिकी वैज्ञानिक जॉन टुज़ो विल्सन (सन् 1908-93) ने सन् 1965 में प्रस्तुत किया था और उसे भू-वैज्ञानिकों के बीच व्यापक स्वीकृति भी मिली।

आज हम देखते हैं कि महाद्वीपों को महासागरों ने विभक्त कर रखा है। लेकिन कभी ऐसा भी समय था जब केवल एक महाद्वीप था जिसे पैनेजीया कहा जाता है। पृथ्वी का शेष हिस्सा समुद्र से आच्छादित था। उसके बाद आज से लगभग बीस करोड़ वर्ष पूर्व पैनेजीया दो बड़े महाद्वीपों में विभक्त हो गया। इनमें से एक को लौरेशिया कहा जाता है। इसमें आज के उत्तरी अमरीका और यूरेशिया शामिल थे। दूसरे को गोंडवाना लैंड कहते हैं। इसमें आज के भारत, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, दक्षिणी अमरीका और अंटार्कटिका शामिल थे। एक बार अलग होने के बाद ये दोनों प्रमुख महाद्वीप पृथ्वी की सतह पर अलग-अलग दिशाओं में अग्रसर होने लगे। फिर ये दोनों महाद्वीप भी अनेक छोटे भू-खंडों में विभक्त हो गए जो विभिन्न दिशाओं में गतिमान हो गए। भारतीय प्लेट या भारतीय भूखंड सदी में एक मीटर की रफ्तार से करोड़ों साल तक यात्रा करता

HBCSE

रहा। लगभग चार-पांच करोड़ वर्ष पूर्व वह एशियाई अथवा यूरेशियाई प्लेट से जा टकराया। इसी टकराव के परिणामस्वरूप हिमालय की उत्पति हुई।

भूकंपी तरंगें

भूकंप से उत्पन्न ऊर्जा पृथ्वी के अंदर अथवा उसकी सतह पर फैलने वाले तरंग के रूप में फैलता है। इन तरंगों को भूकंपी तरंगें कहते हैं। भूकंपी तरंगें जो कि निम्नआवृत्ति ध्वनितरंगें होती हैं, पृथ्वी की सतह पर कंपन पैदा करती हैं। भूकंपीय तरंगों की भौतिकी वास्तव में बहुत जटिल है। भूकंपी तरंगें सभी दिशाओं में संचरण करती हैं एवं प्रत्येक अंतरापृष्ठ (इन्टरफेस) में परावर्तित एवं अपवर्तित होती हैं। वे तरंगें जो पृथ्वी के अंदर फैलती हैं उन्हें काय तरंग (बॉडी वेब) कहते हैं। पृथ्वी की सतह के निकट तक सीमित रहने वाली तरंगों को पृष्ठीय तरंगें कहते हैं।

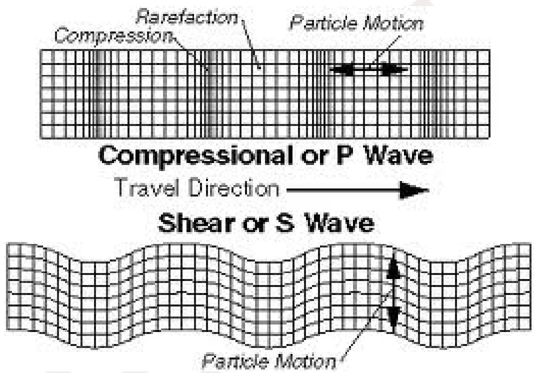

भूकंपी तरंगें

भूकंपीय तरंगें दो प्रकार की होती हैं। पहली प्राथमिक तरंग या पी-तरंग (पी-वेव) और दूसरी द्वितीयक तरंग (सैकेंडरी वेव) या एस तरंग (एस वेव)। प्राथमिक तरंगें अथवा पृथ्वी के अंदर उठने वाली लंबवत तरंगें अग्रगामी और पश्चगामी कंपन उत्पन्न करती हैं। नतीजतन इन कंपनों की राह में आने वाले कण आलोड़ित हो जाते हैं। इनकी गति सतह की चट्टानों में छह कि.मी. प्रति सेकेंड और पृथ्वी के क्रोड (कोर) के निकट 1-4 कि.मी. प्रति सेकेंड होती है। एस तरंगें (जिसे अनुप्रस्थ काय तरंग या ट्रांसवर्स बॉडी वेव कहा जाता है) कणों को आगे-पीछे की ओर अपने फैलाव की दिशा से लंबवत धकेलती हैं। वे सतह की चट्टानों में 3-4 किमी प्रति सेकेंड और पृथ्वी के क्रोड के निकट 7.2 कि.मी. प्रति सेकेंड की रफ्तार से आगे बढ़ती हैं। पृष्ठीय तरंगें अर्थात सतह पर चलने वाली तरंगें रैले तरंगें और लव तरंगों से मिलकर बनती हैं। रैले तरंगों को यह

नाम **लार्ड रैले** (1842-1919) के नाम पर दिया गया है। उन्होंने ही इन तरंगों की प्रकृति की व्याख्या की थी। ये तरंगें ठोस और लचीली सतह में गतिशील होती है और चट्टानों के कणों में दीर्घवृत्तीय गति उत्पन्न करती हैं। काफी दूर स्थित भूकंप-लेखी पर भी इनका गहरा प्रभाव दर्ज होता है। लव तरंगों का नामकरण **लव आगस्टस एडवर्ड हंज** के नाम पर हुआ था। ये चट्टानों के कणों को अपने फैलाव की दिशा से लंबवत विस्थापित करती है और इनमें कोई लंबवत और अनुप्रस्थ अवयव नहीं होता है।

भूकंप की स्थिति में इमारतों में सबसे पहले पी-तरंगों के कारण कंपन होता है। उसके बाद एस-तरंगों का प्रभाव अनुभव किया जाता है। ये ढांचे के किनारों को स्पंदित करती हैं। चूंकि इमारतों को लंबवत कंपनों की अपेक्षा अनुप्रस्थ कंपन अधिक क्षतिग्रस्त करते हैं, अतः पी-तरगें ज्यादा घातक होती हैं। रैले तरंगों और लव तरंगों का असर सबसे अंत में महसूस किया जाता है। पी और एस तरंगों के कारण उच्चआवृति के स्पंदन उत्पन्न होते हैं जब कि रैले और लव तरंगों के कारण कम आवृत्ति के स्पंदन पैदा होते हैं। इन भूकंपी तरंगों की गति भी भिन्न-भिन्न श्रेणी की चट्टानों में भिन्न-भिन्न होती है।

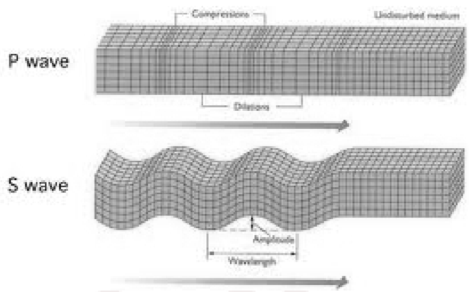

'एस' और 'पी' तरंगे

भूकंप प्रभावित क्षेत्र

वैसे भूकंप कभी भी, तथा कहीं भी आ सकते हैं। पर इसका इतिहास बताता है कि अन्य स्थानों की तुलना में पृथ्वी के तीन विशाल क्षेत्र भूकंप की दृष्टि से अधिक संवेदनशील रहे हैं। पहले क्षेत्र को प्रशांत-चक्रीय भूकंप पट्टी (सर्कम पैसिफिक) कहते हैं।

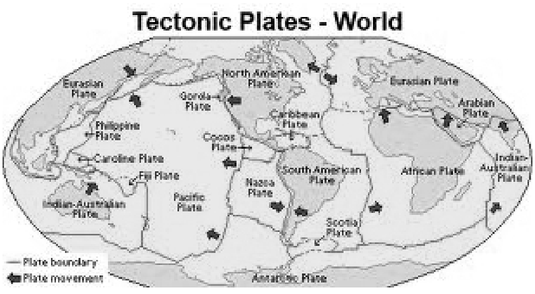

टेक्टोनिक प्लेटें

यह क्षेत्र पूरे संसार में भूकंप के प्रति सर्वाधिक संवेदनशील है और

संसार के 81 प्रतिशत भूकंप यहीं आते हैं। प्रशांत महासागर के किनारे पर पायी जाने वाली यह पट्टी चिली से उत्तर की ओर आगे बढ़कर दक्षिणी अमरीका के समुद्री किनारे से होते हुए मध्य अमरीका, मैक्सिको और अमरीका के पश्चिमी किनारे तक पहुंचती है। वहां से और आगे बढ़कर यह एलेयूटियन द्वीप समह से जापान, फिलीपीन द्वीप समूह न्यूगिनी, दक्षिण-पश्चिम प्रशांत महासागर स्थित द्वीप समूह और न्यूजीलैंड तक जाती है ।

भूकंप के प्रति अति संवेदनशील दूसरी पट्टी को अल्पाइड कहते हैं। संसार के 17 प्रतिशत भूकंप इस क्षेत्र में आते हैं। यह पट्टी जावा से होती हुई सुमात्रा, हिमालय, भूमध्य सागर और अटलांटिक क्षेत्र तक जाती है।

भूमध्य सागर

तीसरी महत्वपूर्ण पट्टी के अंतर्गत मध्य अटलांटिक सागर के अंदर स्थित पहाड़ियाँ आती हैं।

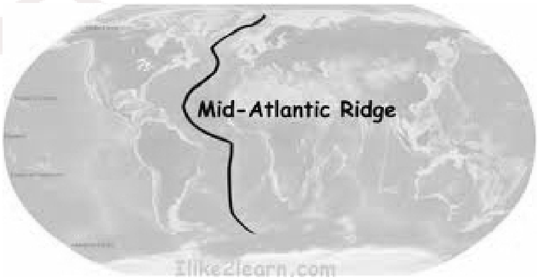

मध्य अटलांटिक सागर

भारत में भूकंप

भारतीय पट्टी में भ्रंश तब पैदा होते हैं जब यह यूरेशियाई पट्टी से घर्षण करती है। 26 जनवरी 2001 को गुजरात में आए भूकंप का अधिकेंद्र अल्लाबंद नाम का एक लघु भ्रंश है, लेकिन यहां भूकंपों के आने का इतिहास रहा है। सन् 1956 से अब तक इस क्षेत्र में विभिन्न तीव्रता

वाले 65 भूकंप दर्ज किए जा चुके हैं।

भारत का एक बड़ा हिस्सा अधिकतम तीव्रता और व्यापक क्षेत्र वाले भूकंपों की आशंका के दायरे में आता है। इस देश में भूकंप भारतीय प्लेट और यूरेशियन प्लेट के बीच घषर्ण की वजह से आते हैं। सर्वाधिक तीव्रता वाले भूकंप प्लेट की उत्तरी, पूर्वी और पश्चिमी सीमा पर आते हैं। भारत में भूकंपों के कारण आयी आपदा का निरीक्षण भारतीय मौसम विभाग (आई.एम.डी.) और भारतीय भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षण (जी.एस.आई.) विभाग करते हैं। आई.एम.डी. भूकंपों का पता लगाने, उनकी संभावना वाले स्थानों को चिन्हित करने और देश के विभिन्न हिस्सों में भूकंपों की संभाव्यता का आकलन करने वाली राष्ट्रीय एजेंसी है। आई.एम.डी.ने पहली भूकंप-प्रेक्षणशाला सन् 1898 में कलकत्ता में स्थापित की थी। आज उसकी प्रेक्षणशालाएं पूरे भारत में हैं। निरीक्षण की दृष्टि से देश को पांच भूकंप-क्षेत्रों में विभाजित किया गया है ।

क्षेत्र 1 : जहां कोई खतरा नहीं है।
क्षेत्र 2 : जहां कम खतरा है।
क्षेत्र 3 : जहां औसत खतरा है।
क्षेत्र 4 : जहां अधिक खतरा है।
क्षेत्र 5 : जहां बहुत अधिक खतरा है।

भारत में भूकंपी क्षेत्र

भूकंप विज्ञानियों ने किसी क्षेत्र पर भूकंपी प्रभाव को दर्शाने के लिए विशेष नक्शे या समभूकंपी नक्शे तैयार किए हैं। इन नक्शों को भूकंपी संकट नक्शे भी कहते हैं क्योंकि इस प्रकार नक्शे से किसी क्षेत्र विशेष में भूकंपी संकट को दशार्ते हैं। भारतीय मौसम विभाग द्वारा तैयार किए कैटेलाग में देश में आ चुके 1200 भूकंपों का ब्यौरा दर्ज है ।

भारत में आए कुछ बड़े भूकंपों की स्थानवार सूची

तिथि	**अधिकेंद्र**	**परिमाण**
1819, जून 16	कच्छ, गुजरात	8.0
1869, जून 10	कचार, असम	7.5
1885, मई 30	सोपोर, जम्मू एवं कश्मीर	7.0

HBCSE

1897, जून 12	शिलांग, प्लेटो	8.7
1905, अप्रैल 4	कांगडा, हिमाचल प्रदेश	8.0
1918, जुलाई 8	असम	7.6
1930, जुलाई 2	ढुबरी, असम	7.1
1934, जनवरी 15	बिहार नेपाल सीमा	8.3
1941, जनवरी 26	अंडमान द्वीप	8.1
1943, जून 23	असम	7.2
1950, अक्टूबर 16	अरूणाचल प्रदेश, चीन सीमा	8.5
1958, अगस्त 21	अंजार, गुजरात	7.0
1957, जुलाई 10	किन्नौर, हिमाचल प्रदेश	6.2
1975, अगस्त 6	मणिपुर - म्यांमार सीमा	6.6
1988, अगस्त 21	बिहार - नेपाल सेवा	6.4
1991, अक्टूबर 20	उत्तरकाशी	6.6
1993, सितम्बर 30	लातूर-उस्मानाबाद (महाराष्ट्र)	6.3
1997, मई 22	जबलपुर म. प्र.	6.0
1999, मार्च 29	चमोली, उत्तर प्रदेश	6.8
2001, जनवरी 26	भुज	7.9

भूकंप से सुनामी पैदा हो सकती हैं।

बड़े भूकंप पृथ्वी की सतह पर तो भारी हलचल पैदा करते ही हैं। लेकिन कभी-कभी इनके कारण समुद्र में विशाल तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं जो किनारों पर स्थित चीजों को बहा ले जाती हैं। अक्सर प्रशांत महासागर में आने वाले कई भूकंपों के कारण ऐसी लहरें उत्पन्न हो जाती हैं। इन विनाशकारी लहरों को **सुनामी** कहते हैं। अक्सर लोग सुनामी का अर्थ ज्वार समझ लेते हैं। लेकिन यह सूर्य अथवा चंद्रमा के ज्वारीय प्रभाव के

सुनामी

कारण उत्पन्न नहीं होती हैं। ये लहरें मध्य समुद्र में तो अधिक ऊंची नहीं होतीं। किनारे के समीप आने पर इनमें उफान आने लगता है। किनारों पर टकराने वाली सुनामी लहरें इमारतों को ध्वस्त कर देती हैं और जहाजों तथा नावों को तटवर्ती भूमि पर दूर तक बहा ले जाती हैं।

भूकंप को किस प्रकार मापें

किसी भूकंप की तीव्रता भूकंप-लेखी (सीस्मोग्राफ) में अंकित भू-तरंगों के आधार पर मापी जाती है। भूकंप-लेखी, भू-स्पंदन को अंकित करने वाला उपकरण है। ज्यादातर आधुनिक भूकंप-लेखी एक नाजुक तरीके से लटकाए गए जड़त्व पर आधारित होती है। यह द्रव्यमान पर स्थित किसी निश्चित बिंदु और वहां से द्रव्यमान के विस्थापन की दूरी को मापता है। अन्य प्रकार के भूकंप-लेखी जमीन पर स्थित दो बिंदुओं के आपेक्षिक विस्थापन को मापते हैं। किसी भूकंप की तीव्रता भूकंप-लेखी में दर्ज हुए अधिकतम आयाम एवं भूकंप स्थल से उपकरण की दूरी के आधार पर निर्धारित की जाती है।

भूकंप-लेखी में पेंडुलम अथवा स्प्रिंग से लटके द्रव्यमान के रूप में एक भूकंप-मापी होता है। इसकी सहायता से भूकंप-लेखी में जो रिकार्ड दर्ज होता है, उसे भूकंप (सीस्मोग्राफ) अभिलेख कहते हैं। इसका उपयोग किसी भूकंप की स्थिति अथवा तीव्रता की गणना करने के लिए किया जाता है। भूकंप-अभिलेख पर क्षैतिज अक्ष समय को प्रदर्शित करता है। इसकी गणना सेकेंड में की जाती है। ऊर्ध्वाधर अक्ष भू-विस्थापन को दर्शाता है। इसको मिलीमीटर में मापते हैं। किसी भूकंप-मापी की सहायता से भूकंप-अभिलेख तैयार किए जाने के कई तरीके हैं। मसलन किसी ड्रम के ईद-गिर्द लिपटे हुए कागज पर किसी पेन की सहायता से लकीरें खींची जाती हैं। कोई प्रकाशपुंज किसी घूमती हुई फोटोग्राफी फिल्म पर अपना प्रभाव चिन्हित कर सकता है एवं विद्युत-चुम्बकीय प्रणाली विद्युत धारा उत्पन्न करती हैं जिसे इलेक्ट्रॉनिक तरीके से टेप पर अंकित किया जा सकता है। आमतौर पर भूकंप-रहित स्थिति में भूकंप-अभिलेख एक सरल रेखा मात्र होता है मगर स्थानीय विक्षोभ या शोर-शराबे तथा समय चिह्नित्र (टाइम मार्कर) हिल जाने से पसिर्पण (रिगल्य) देखते हैं।

पहले भूकंपदर्शी का आविष्कार चीनी दार्शनिक चांग हेंग ने सन् 132 ई. में किया था। चीन में विकसित इस मापक युक्ति के आठ सिर बने हुए थे, जो कुतुबनुमा की आठों मुख्य दिशाओं की ओर उन्मुख थे। ड्रैगन के प्रत्येक स्तर के नीचे मेंढक का एक बच्चा बना हुआ था। उनके खुले

हुए मुंह ड्रैगन के सिरों की ओर उन्मुख थे। भूकंप आने पर उनमें से कोई एक अथवा कई ड्रैगन अपने मुंहों से एक-एक गेंद निकाल कर नीचे बैठे मेंढक के बच्चों के मुंह में डाल देते थे। भूमि के हिलने की दिशा का निर्धारण इस बात से किया जाता था कि किस ड्रैगन के मुंह से गेंद निकली। यह ज्ञात नहीं है कि घड़े के अंदर क्या रहता था?

भूकंप की शक्ति का कैसे पता लगाएँ?

परिमाण (मैग्नीट्यूड) एवं तीव्रता (इंटेन्सिटी) भूकंप की शक्ति मापने के दो तरीके हैं। भूकंप के परिमाण भूकंप लेखी में दर्ज भू-तरंग के संकेतों के अधिकतम आयाम एवं भूकंप स्थल से उपकरण की दूरी के आधार पर निर्धारित किए जाते हैं। किसी भूकंप की तीव्रता उस भूकंप के आकार का मापन है जो उस भूकंप द्वारा मानवों, इमारतों और भूमि पर दृष्टिगोचर होने वाले प्रभावों की व्यापकता के आधार पर किया जाता है। परिमाण और तीव्रता के बुनियादी अंतर को समझना जरूरी है। परिमाण भूकंप के आकार को भ्रंश फूटन (फॉल्ट रप्चर) द्वारा उत्पन्न विकृति ऊर्जा के आधार पर मापते हैं। भूकंप की तीव्रता किसी स्थान पर उत्पन्न कंपन की प्रबलता को मापते हैं। किसी निश्चित परिमाण वाले भूकंप के दौरान विभिन्न स्थान पर भिन्न-भिन्न तीव्रता का अनुभव किया जा सकता है ।

परिमाण को मापने के लिए आमतौर पर अमेरिकी भौतिकीविद् चार्ल्स एफ रिक्टर द्वारा विकसित पैमाने या स्केल का प्रयोग करते हैं जिसे रिक्टर स्केल कहते हैं। रिक्टर ने यह पैमाना सैकड़ों भूकंपों के अध्ययन से ज्ञात प्रतिरूपों के आधार पर विकसित किया था। रिक्टर पैमाना 1 से आरंभ होता है मगर इसका कोई अंतिम छोर तय नहीं किया गया है। रिक्टर पैमाने का आधार लघुगणकीय (लॉगैरिथ्मिक) होता है जिसका प्रत्येक अंक अपने पूर्ववर्ती अंक से दस गुना अधिक होता है ।

रिक्टर पैमाने पर निर्धारित परिमाण के आधार पर भूकपों का वर्गीकरण किया जाता है।	
तीव्रता	**प्रभाव**
2.0 से कम	सामान्यत: महसूस नहीं किया जाता, लेकिन स्केल पर अंकित हो जाता है।
2.0 से 2.9	अनुभूकंप के कारण होने वाली क्षति के दृश्य भव किए जाने की संभावना रहती है।

3.0-3.9	कुछ लोग महसूस कर लेते हैं
4.0-4.9	अधिकतर लोग महसूस कर लेते हैं।
5.0-5.9	नुकसानदेह आघात
6.0-6.9	आवासीय क्षेत्रों में विनाशकारी प्रभाव
7.0-7.9	बड़े भूकंप, इनके कारण भारी क्षति होती है।
8.0 से अधिक	प्रबल भूकंप, अधिकेंद्र के निकट भारी तबाही मचाते हैं।

भूकंप-विज्ञानी रिक्टर स्केल पर सन् 1880 से पूर्व आए भूकंपों (अर्थात् आधुनिक भूकंप-लेखियों के अस्तित्व में आने से पहले के भूकंप) की तीव्रता कैसे आंकते हैं? इसके लिए वे भूकंप के भौतिक प्रभावों, यथा भ्रंशों, भू-स्खलनों, बालू के टीलों, नदियों के जलमार्गों में परिवर्तन, और विवरण उपलब्ध होने की दशा में भूकंप के मानव समुदाय पर विनाशकारी प्रभावों की तुलना आधुनिक भूकंपों से करते हैं। ऐसी तुलनाओं के लिए कई तरह के अनुमानों का सहारा लेना पड़ता है। अतः भू-वैज्ञानिकों के आपसी निष्कर्षों में काफी अंतर होता है। इसलिए कोई अचरज नहीं कि पृथ्वी पर पुराने समय में आए भूकंपों के परिमाण के विभिन्न आकलनों में भी काफी अंतर रहा है।

किसी भूकंप की शक्ति को व्यक्त करने के दो तरीके हैं-एक परिमाण, दूसरा तीव्रता। रिक्टर स्केल पर किसी भूकंप का परिमाण मापा जाता है अर्थात् वह भूकंप के दौरान पृथ्वी पर निर्मुक्त की गई ऊर्जा का आकलन होता है।

भूकंप की तीव्रता उसके द्वारा किए गए विनाश के आधार पर आंकी जाती है। इसका आकलन भूकंप के प्रभावों के निरीक्षण पर आधारित होता है। तीव्रता मापने के लिए 12 श्रेणियों में विभक्त मर्कली तीव्रता स्केल का प्रयोग व्यापक स्तर पर होता है ।

सन् 1880 में जॉन मिल्ने, जेम्स एविंग और थामस ग्रे ने एक सुसम्बद्ध भूकंप-लेखी विकसित किया। उसे संसार भर में विभिन्न स्थानों पर स्थापित किया जा सकता था। इन उपकरणों से भूकंपों के भौगोलिक वर्गीकरण के संबंध में प्रारंभिक आंकड़े प्राप्त करने में काफी मदद मिली।

HBCSE

उनकी सहायता से ही भूकंपीय प्लेटों की सीमाएं ज्ञात हो सकीं।

-:मर्कली का संशोधित भूकंप तीव्रतामापी स्केल:-
1.अत्यंत अनुकूल परिस्थितियों में कुछ लोगों के अलावा अन्य लोग इसे अनुभव नहीं कर पाते हैं ।
2.विश्राम कर रहे, विशेषकर ऊपरी मंजिलों में मौजूद, लोगों को महसूस होता है। ढीले-ढाले ढंग से लटकाई गई वस्तुएं हिल सकती हैं।
3.मकान के अंदर विशेषकर ऊपरी मंजिल में रहने वाले मौजूद अधिकांश लोग इसे महसूस करते हैं। वातावरण में पास से ट्रक गुजरने जैसा स्पंदन होता है। भूकंप के दौरान खड़ी हुई कारें हल्के से हिल सकती हैं। इस तरह की भूकंप की अवधि का आकलन हो सकता है।
4.दिन के समय इसे घर के अंदर बहुत से लोग तथा घर के बाहर भी कुछ लोग महसूस कर सकते हैं। इससे रात में कुछ लोग जग जाते हैं। तश्तरियाँ, खिड़की, दरवाजे खड़खड़ाने लगते हैं और दीवारों के चटखने की आवाजें आने लगती हैं। ऐसा महसूस होता है कि कोई भारी ट्रक किसी इमारत से टकरा गया हो। खड़ी हुई मोटरकारों में कंपन अधिक होता है।
5.लगभग सभी लोग इसे अनुभव करते हैं। कई लोग नींद से जाग जाते हैं। तश्तरियाँ और खिड़कियाँ टूट सकती हैं। दोलक पेंडुलम वाली घड़ियां रुक जाती हैं।
6.सभी महसूस करते हैं। कुछ लोग भयभीत होकर बाहर की ओर दौड़ते हैं। कुछ भारी फर्नीचर हिलने लगते हैं और इस दौरान प्लास्टरों के टूट कर गिरने की एवं चिमनियों के क्षतिग्रस्त होने की कुछ घटनाएं भी घटित होती हैं। हल्का नुकसान होता है।
7.सभी लोग बाहर की ओर दौड़ते हैं। अच्छी डिजाइन और संरचना वाले भवनों को नहीं के बराबर नुकसान होता है। औसत स्तर के अच्छे निर्माण को थोड़ा-सा नुकसान होता है, लेकिन खराब ढंग से निर्मित इमारतों को पर्याप्त क्षति होती है। कुछ चिमनियां टूट जाती हैं। कार चला रहे लोगों को इसका अनुभव होता है।
8.विशेष प्रकार से निर्मित किए गए निर्माण को कुछ क्षति पहंचती है। साधारण ढंग से बनी विशाल इमारतें व्यापक रूप से क्षतिग्रस्त होती हैं। खराब ढंग से बनी इमारतें सर्वाधिक क्षतिग्रस्त होती हैं। खम्भे, स्मारक, दीवारें, गिर सकती हैं। भारी फर्नीचर उलट जाते हैं। कम मात्रा में रेत

और मिट्टी निष्कासित होती हैं। कुओं के जल स्तर में परिवर्तन होता है। कार चालक घबरा जाते हैं।
9.विशेष ढंग से बनाई गई इमारतें भी क्षतिग्रस्त हो जाती है। इमारतों की बुनियादें हिल जाती हैं। भूमि में दरारें स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। भूमिगत पाइप टूट जाते हैं।
10.इसमें अच्छे निर्माण भी नींव सहित ध्वस्त हो जाते हैं। अधिकांश इमारतें और ढांचागत संरचनाएं नीवं समेत नष्ट हो जाती हैं। जमीन में चौड़ी दरारें पड़ जाती हैं। भूमिगत पाइप लाइनें पूर्णतः बेकार हो जाती हैं। नदियों के किनारों और ढलानों पर भूस्खलन होता है। रेल की पटरियाँ काफी मुड़ जाती हैं।
11.इसमें शायद ही कोई निर्माण बचा रह पाता है। पुल नष्ट हो जाते हैं। जमीन में चौड़ी दरारें पड़ जाती हैं। भूमिगत पाइप लाइनें पूर्णत : बेकार हो जाती हैं। नदियों के किनारों और ढलानों पर भूस्खलन होता है। रेल की पटरियां ऐंठ जाती हैं।
12.इस श्रेणी का भूकंप पूर्ण विनाश करता है। भूमि पर तरंगें देखी जा सकती हैं। इसमें दृष्टिगत होने वाली समस्त रेखीय और धरातलीय आकृतियां विरूपित हो जाती हैं। वस्तुएं हवा में उछल जाती हैं।

भूकंप पूर्वानुमान

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इन तीन घटनाओं के चलते भूकंप-विज्ञान ने बहुत प्रगति की।

सदी के सातवें दशक में अमरीकी सरकार ने 120 भूकंप केंद्रों का एक तंत्र स्थापित किया। इसकी स्थापना मुख्यतः नाभिकीय परीक्षणों का पता लगाने के लिए की गयी थी।

प्लेट-विवर्तनिकी सिद्धांत के विकास से भूकंपों की आधारभूत गतिशीलता का खाका विकसित करने में सहायता मिली। कंप्यूटर टेक्नोलॉजी के विकास ने आँकड़ों की विशाल संख्या का विश्लेषण करना संभव बना दिया।

इन महत्वपूर्ण विकासक्रमों के बावजूद भूकंप-प्रक्रिया संबंधी हमारी समझ में कई कमियां हैं। यह स्थिति उन स्थानों के संबंध में भी हैं, जहाँ के बारे में पर्याप्त आंकड़े उपलब्ध हैं। वैसे भू-वैज्ञानिक अपनी अवधारणाओं को लगातार संशोधित कर रहे हैं। अब तब

बड़े भूकंपों के बारे में दो बार सटीक भविष्यवाणी की गई है। पहली भविष्यवाणी सन् 1971 में न्यूयार्क में आए ब्लू माउंटेन लेक (झील) के भूकंप के बारे में की गई है। इस संबंध में एक भारतीय भूकंप-विज्ञानी ने सटीक भविष्यवाणी की थी। दूसरी भविष्यवाणी सन् 1975 के हेईचेंग-भूकंप के बारे में की गई थी। वह भविष्यवाणी एक चीनी भूकंप-विज्ञानी ने की थी। लेकिन पार्क फील्ड भूकंप के बारे में की गई भविष्यवाणी गलत साबित हुई। भूकंप की भविष्यवाणी करने की कोई स्थापित वैज्ञानिक पद्धति नहीं है। कुछ विशेषज्ञों का मानना है कि चूंकि भूकंप आने की प्रक्रिया में अनेक जटिल और अनिश्चित कारक शामिल रहते हैं। अतः समय, स्थान और परिमाण की संकीर्ण सीमाओं के दायरे में भूकंप की सटीक भविष्यवाणी कर पाना शायद कभी संभव न हो।

यह स्थिति इस तथ्य के बावजूद है कि भूकंप-क्षेत्रों का स्थानिक वर्गीकरण स्पष्ट तौर पर परिलक्षित होता है। अधिकांश भूकंप पृथ्वी की बाहरी खोल में स्थित भूकंपीय प्लेंटों से संबद्ध सीमित क्षेत्रों में ही आते हैं। फिलहाल ऐसी सांख्यिकी तकनीक उपलब्ध है, जिनकी सहायता से सभी आवश्यक आंकड़े उपलब्ध होने पर भूकंप आने के समय और स्थान की भविष्यवाणी की जा सकती है, पर इन तरीकों पर आधारित भविष्यवाणी सटीक नहीं होती। उनमें अनिश्चितता का तत्व बना रहता है। भूकंप आने का स्थान किसी निश्चित बिंदु के दो सौ किलोमीटर के दायरे में कहीं भी हो सकता है और समय सीमा दस वर्ष भी हो सकती है। इसलिए यदि ऐसी भविष्यवाणी सही साबित हो भी जाए तो भी आपदा का सामना करने की तैयारी की दृष्टि से यह निरर्थक है।

हालांकि भूकंपों का आना न तो रोका जा सकता है और न ही उनकी सटीक भविष्यवाणी की जा सकती है, पर ऐसी इमारतें जरूर बनाई जा सकती हैं, जो भूकंप के समय धरती में होने वाली हलचल को सह सकें और सुरक्षित रह सकें। वैसे इमारतों के भूकंप-रोधी प्रारूपों के निर्माण की कला अब वास्तविक अर्थों में अभियांत्रिकी के एक बहुआयामी क्षेत्र के रूप में विकसित हो चुकी है। लेकिन अब भी सामान्य व्यक्ति इस संबंध में अनभिज्ञ है। अतः लोगों को भूकंप एवं उसके आने के बाद के प्रभावों के बारे में जागरूक बनाना आवश्यक है।

भूकंप के कारण होने वाली क्षति

भूकंप के कारण होने वाली क्षति मुख्यतः इमारतों अथवा अन्य निर्माणों के ध्वस्त होने के कारण होती है। इसलिए कहा जाता है भूकंप लोगों को नहीं मारते बल्कि उन्हें इमारतों या अन्य निर्माण मारते हैं। रिक्टर पैमाने पर आए समान परिणाम के दो भूकंप के द्वारा की गयी तबाही में अंतर हो सकता है। यह इसलिए क्योंकि भूकंप से होने वाली क्षति कई कारकों पर निर्भर होती है। इन कारकों में से एक कारक है भूकंप के केंद्र-बिंदु की गहराई। जब भूकंप केंद्र बिंदु काफी गहराई में होता है तब सतह पर क्षति कम होती है। 26 जनवरी 2001 को गुजरात में आये भूकंप का केंद्र बिंदु अपेक्षाकृत कम गहराई में था, 2.5 किलोमीटर से कम। इसी प्रकार सन् 1999 के मार्च महीनें में गढ़वाल क्षेत्र में आये भूकंप का केंद्र बिंदु भी कम गहराई पर स्थित था।

भूकंप के कारण होने वाली क्षति

भूकंप के कारण होने वाली क्षति के दृश्य

यह संभव है कि भिन्न-भिन्न भूकंपों का परिमाण रिक्टर स्केल पर एक ही हो, पर अलग-अलग स्थानों पर उनके कारण मची तबाही में अंतर हो। किसी भूकंप के कारण हुई क्षति के एक से अधिक कारण हो सकते हैं। इसका एक कारण भूकंप के केंद्र-बिंदु की गहराई हो सकती है। कुछ भूकंप काफी गहराई में जन्म ले सकते हैं। ऐसे मामलों में पृथ्वी की सतह पर काफी कम तबाही होती है। 26 जनवरी 2001 को आए भूकंप का केंद्र-बिंदु अपेक्षाकृत कम गहराई में (2.5 किलोमीटर से भी कम) स्थित था। मार्च 1999 में गढ़वाल में आए भूकंप का जन्म भी कम गहराई में हुआ था। भूकंपों का जन्म पृथ्वी की पपड़ी अथवा उसकी ऊपरी खोल में होता है। इसका विस्तार पृथ्वी की सतह से आठ सौ किलोमीटर की गहराई तक होता है।

भूकंपी कोड

इमारतों को भूकंपों से उत्पन्न भू-कंपनों का सामना करने के लिए विशेष रूप से तैयार करना आवश्यक है। इस दिशा में डिजाइन इंजीनयरों को

HBCSE

सहायता करने के लिए विश्व भर के देशों में भूकंपी कोड तैयार किए गए हैं। किसी क्षेत्र विशेष या देश के लिए भूकंपी कोड वहां के स्थानीय भूकंप विज्ञान, खतरे के स्वीकार्य स्तर, भवन प्रारूपताओं तथा निर्माण में प्रयुक्त सामग्रियों और विधियों को ध्यान में रखकर तैयार किया जाता हैं। किसी देश का भूकंपी कोड वहां के भूकंप इंजीनियरी के क्षेत्र में की गई प्रगति का भी सूचक होता हैं।

भूकंपरोधी इमारत में निम्नलिखित चार विशेषताएं होती हैं

1.अच्छा संरचनात्मक विन्यास (गुड स्ट्रक्चरल कॉन्फिगरेशन)
2.पार्श्व सामर्थ्य (लैटरल स्ट्रेंथ)
3.पर्याप्त कठोरता (एडीक्वेट स्टिफनेस)
4.अच्छी तन्यता (गुड डक्टिलिटी)

भारत में सन् 1962 में आईएस-1893 नामक प्रथम औपचारिक भूकंपी कोड प्रकाशित हुआ था। वर्तमान में भारतीय मानक ब्यूरो (बी.आई.एस) के अंतर्गत निम्नलिखित भूकंपी कोड आते हैं:

1.आईएस-1893 भाग-1, 2002 संरचनाओं की भूकंपरोधी अभिकल्पना के लिए भारतीय मानक मानदंड, पाँचवां संशोधन।
2.आईएस-4326, 1993, भूकंपरोधी अभिकल्पना और इमारतों के निर्माण के लिए व्यवहार में आने वाला भारतीय मानक कोड, दूसरा संशोधन।
3.आईएस-13827, 1993, मृदा इमारतों के भूकंपरोधी को सुधारने हेतु भारतीय मानक दिशा-निर्देश ।
4.आईएस-13828, 1993, कम सामर्थ्य वाली चिनाईयुक्त इमारतों की भूकंपरोधी क्षमता को सुधारने हेतु भारतीय मानक दिशा निर्देश ।

भूकंप के दौरान और उसके बाद क्या किया जाए

यदि भूकंप आने के बाद राहत कार्य समय से हो और उसमें कुशलता बरती जाए तो आपदा में हताहत होने वालों की संख्या में भी कमी लाई जा सकती है। इसके लिए क्रेनों, सर्चलाइटों, सूंघकर लोगों का पता लगाने वाले प्रशिक्षित कुत्तों, विस्फोट करने वाले उपकरणों, डाक्टरों, विशेषकर हड्डी के डाक्टरों और रुधिर आपूर्ति की आवश्यकता होती है। आपदा के बाद की परिस्थितियों को कारगर ढंग से संभालने के लिए इन बातों पर विशेष बल देने की आवश्यकता है।

आपदा के समय हैम रेडियो बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है क्योंकि प्रभावित क्षेत्र की सामान्य संचार प्रणाली अस्त-व्यस्त हो जाती है। हैम

रेडियो को लोकप्रिय बनाने के प्रयास जारी हैं। इंटरनेट हमें समय गंवाए बिना विश्व के विभिन्न भागों में उपलब्ध सारी प्रासंगिक सूचनाएँ उपलब्ध कराने में सहायक हो सकता है।

यह महत्वूपर्ण बात ध्यान में रखना चाहिए कि भूकंप स्वयं व्यक्तियों को न तो घायल करता है और न ही मार सकता है। भूकंप के दौरान गिरती वस्तुएं, ढहती दीवारें और उखड़ता प्लास्टर व्यक्ति को नुकसान पहुंचाता है। इनके अलावा भूकंप से कुछ अन्य खतरे भी जुड़े होते हैं। जैसे गिरता मलबा और उसके फैलाव से अवरोध उत्पन्न होने, एवं विद्युत लाइनों के कारण और जलते स्टोव या गैस से आग लगने से व्यापक क्षति हो सकती है।

भूकंप में आपको निम्न बिंदुओं को याद रखना चाहिए।
भूकंप के दौरान
यदि आप घर के अंदर हैं तब :
- घबराएं नहीं
- घर के अंदर ही रहें।
- समीपस्थ सुरक्षित स्थल की और पहुंचें। अपने को ढँक लें। भारी फर्नीचरों के नीचे या दीवारों से दूर खड़े रहें ।
- जब तक कंपन होता रहे तब तक बाहर नहीं निकलें क्योकि संभव है कि दरवाजे या सीढ़ियाँ टूट जाएँ या वे क्षतिग्रस्त हो सकते हैं।
- लिफ्ट का उपयोग ना करें।
- दरवाजों, अलमारियों और कांच की खिड़कियों, दर्पण के पास खड़े न रहें।

यदि आप बिस्तर पर हैं तब वहीं रहिये। अपने सिर को तकिये से ढक लें। बिस्तर को कसकर पकड़ लें।

यदि आप खुले स्थान में हैं तब :
वृक्षों, विद्युत लाइनों और भवनों आदि से दूर रहकर खुले स्थान की ओर जाएँ।
होर्डिंग और लैम्पों के गिरने के कारण गलियों से गुज़रना खतरनाक हो सकता है।
जब तक भूमि का कंपन बंद न हो जाए, भूमि पर लेटे रहें।

यदि आप वाहन चला रहे हैं तब :
अपने वाहन को इमारतों, वृक्षों और विद्युत लाइनों से दूर खड़ा करें।
भूमिगत या ऊपरी पुलों से ना गुज़रें और ना ही वहाँ रुकें।
गाड़ी के इंजन को बंद कर दें।
वाहन के अंदर ही रहें, इससे आप उड़ते या गिरते पदार्थों से बचे रह सकते हैं।

भूकंप के बाद

- यदि आपका घर असुरक्षित लगे तो वहाँ से बाहर निकल जाएँ।
- पश्चवर्ती आघातों के लिए तैयार रहें।
- यदि कोई घायल हुआ हो तो उसे संभालें। गंभीर रूप से घायल व्यक्तियों के लिए चिकित्सा उपलब्ध कराएँ।
- यथोचित सुविधा का इंतज़ाम करें।
- गलियों में भीड़ न लगाएँ क्योंकि इससे आपातकालीन सेवाएँ बाधित हो सकती हैं।
- अफवाहों पर न तो ध्यान दें, ना फैलाएँ।
- सभी विद्युत उपकरणों को बंद कर दें। यदि आप कोई चिंगारी या टूटे तार देखें या जलने की गंध का अनुभव करें तो मुख्य फ्यूज़ बॉक्स से विद्युत आपूर्ति बंद कर दें या विद्युत परिपथ का मार्ग भंग कर दें।
- आग बुझाएँ।
- रसोई गैस प्रणालियों को बंद कर दें।
- अपने पैरों की सुरक्षा के लिए जूते पहनें।
- तत्कालिक सूचनाओं के लिए बैटरी चालित रेडियो सुनें या दूरदर्शन देखें।
- यह सुनिश्चित कर लें कि पानी व्यर्थ न बहे, क्योंकि आग बुझाने के लिए पानी की जरूरत पड़ सकती है।

भूकंप की तैयारी

यदि आप भूकंप के खतरे वाले क्षेत्र में रहते हैं तब पहले से बनायी गई आपात योजना आपकी सहायता कर सकती है। परिवार के हर सदस्य को यह जानकारी होनी चाहिए कि किस प्रकार से गैस, पानी और विद्युत के मुख्य यंत्रों को बंद किया जाता है। परिवार में आपातकालीन स्थिति का रिहर्सल करना चाहिए।

सुरक्षा किट का संयोजन

- लंबे समय तक खराब ना होने वाली खाद्य-सामग्री का भण्डारण।
- पेयजल।
- प्राथमिक उपचार किट और दिग्दर्शिका।
- आग बुझाने वाला उपकरण।
- कंबल।
- सीलबंद प्लास्टिक बैग।
- नयी बैटरी और बल्ब के साथ टॉर्च।
- आपातकालीन दवाएँ, अतिरिक्त चश्में।
- पेंचकस, चिमटी, तार, चाकू, खंबे।
- पौधों पर पानी छिड़कने वाली छोटी रबर की नली।
- टिशू पेपर।
- स्त्रीयोचित सामान।
- यदि भूकंप के दौरान आप अपने परिवार से अलग हो गए हों तो परिवार के पास वापस जाने की योजना बनाएँ।
- आकस्मिक टेलिफोन नम्बरों (डॉक्टर, हॉस्पिटल, पुलिस आदि) को याद रखें।
- बिस्तर के ऊपर भारी वस्तुएँ न हों।
- भारी वस्तुएँ परिवार के सबसे छोटे सदस्य की लंबाई से भी कम ऊँचाई पर रखें।

स्वयंसेवकों के लिए सुझाव

यदि स्वयंसेवक भूकंप पश्चात के परिदृश्य में राहत कार्य करना चाहें तो इन वस्तुओं को ले जाना याद रखें।

- बैटरी चालित टॉर्च, रेडियो।
- अतिरिक्त कपड़े।
- मोटे तले वाले सख्त जूते।
- अतिरिक्त दवाइयाँ।
- मोमबत्ती और माचिस।
- जलसह (वॉटरप्रूफ) पात्र में मोमबत्ती और माचिस।
- पूर्ण प्राथमिक चिकित्सा किट।
- शुद्ध पेयजल या क्लोरीन मिला हुआ पेयजल।
- सूखा और डिब्बाबंद भोजन।
- कागज की प्लेटें, कप, प्लास्टिक के बर्तन।
- कंबल और बिस्तर।
- टूथब्रश, टूथपेस्ट, प्रतिजीवाणु घोल, दस्ताने आदि।

- महत्वपूर्ण फोन नम्बरों की सूची।
- स्टोव, तंबू, ईंधन, अग्निशामक उपकरण, बारिश से बचाव का साधन।

तकनीकी शब्द

सक्रिय भ्रंश (एक्टिव फॉल्ट) : ऐसा भ्रंश, जिस पर भविष्य में पुनः भूकम्प आने की संभावना हो।

अभूकंपीय (एसीस्मिक) : यह शब्द सामान्यतः ऐसे स्थानों के लिए प्रयुक्त होता है जहां भूकंप नहीं आता है।

कायिक तरंगें : ऐसी भूकंपीय तरंगें जो पृथ्वी की सतह के समानांतर अथवा उसके निकट चलती हैं।

झुकाव (डिप) : यह किसी भ्रंश के धरातल अथवा अन्य किसी स्तर और क्षैतिज रेखा के बीच बनने वाला कोण है।

अधिकेंद्र : यह केंद्रबिंदु के ठीक ऊपर पृथ्वी की सतह पर स्थित बिंदु होता है।

भ्रंश : पृथ्वी की पपड़ी में हुई टूट, चट्टानें एक दूसरे के सापेक्ष इसी के समानांतर विस्थापित होती हैं। यह कुछ सेन्टीमीटर से लेकर कई किलोमीटर तक का हो सकता है। विस्थापन का स्वरूप क्षैतिज, तिर्यक या लंबवत हो सकता है।

भ्रंश-कगार (फॉल्ट थ्रो) : भ्रंश के कारण हुआ चट्टानों का लम्बवत विस्थापन।

प्रारम्भिक आघात (फोरशॉक) : मुख्य आघात अथवा बड़े भूकंप से पहले हुआ कंपन।

भ्रंश छज्जा (फॉल्ट टेरेस) : दो समानांतर भ्रंशों के विस्थापन से ढलान पर बनी पायदाननुमा बनावट।

भू-गणित : पृथ्वी की सतह के सर्वेक्षण एवं मानचित्र-निर्माण से संबंधित विज्ञान की शाखा।

भू-विज्ञान : पृथ्वी की उत्पत्ति, संरचना और संघटन से संबंधित विज्ञान की शाखा।

भू-भौतिकी : विज्ञान की वह शाखा जिसमें पृथ्वी की पपड़ी और आंतरिक संरचना के अध्ययन के लिए गणित और भौतिकी के सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है।

स्थल भूकंपीय : मानचित्र पर किसी भूकंप विशेष के समान तीव्रता वाले क्षेत्र को सीमाबद्ध करने वाली रेखा या परिरेखा।

स्थल मंडल : पृथ्वी की संरचना का सबसे ऊपरी स्तर, विवर्तनिकी गति में भाग लेने वाली प्लेटों का निर्माण पृथ्वी के इसी स्तर से होता है।

लव तरंगें : इस प्रकार की भूकंपीय तरंगें अपने फैलाव की लंबवत या अनुप्रस्थ दिशा में क्षैतिज गति करती हैं।

मुख्य आघात : भूकंप समूह का सबसे बड़ा भूकंप, मुख्य आघात से पहले भी एक या कई भूकंप आते हैं। लेकिन उसके बाद अनेक भूकंपों का आना निश्चित होता है।

प्लेट विवर्तनिकी : इस सिद्धान्त के अनुसार हमारी पृथ्वी की सतह अनेक प्लेटों और बड़ी-बड़ी चट्टानी पट्टियों से निर्मित हैं। इन प्लेटों की धीमी परंतु निरंतर गति के आधार पर महाद्वीपों के सरकाव एवं पर्वतों के निर्माण आदि जैसी परिघटनाओं की व्याख्या की जा सकती है।

रैले तरंग : यह पृथ्वी के मुक्त धरातल पर प्रतिगामी दिशा में गति करने वाली दीर्घवृत्तीय तरंगें हैं। इन्हें आर. तरंग के नाम से भी जाना जाता है।

एस. तरंग : इस तरह की कायिक भूकंपीय तरंगें भूमि को अपने फैलाव की दिशा से आगे पीछे की ओर लंबवत धकेलती हैं।

भूकंपीय तरंगें : भूकंप द्वारा सृजित ये भूकंपीय तरंगें लचीली (प्रत्यक्ष) होती हैं। ये पृथ्वी की सतह पर तलीय भूकंपीय तरंगें या उसके अंदर कायिक भूकंपीय तरंगें चलती हैं।

भूकंप-मापी : भूकंपों एवं वैसे ही अन्य कंपनों की तीव्रता और उनकी अवधि को दर्ज करने वाला उपकरण के एक ही एकक के रूप में उल्लेख करने वाला शब्द भूकंप-मापी है।

भूकंप-स्थिरांक : इस शब्द का उपयोग भूकंप-प्रतिरोधी भवनों के निर्माण से संबंधित संहिता में किया जाता है। यह गुरुत्वीय त्वरण मापने की इकाई में निर्धारित एक त्वरण स्थिरांक होता है। अपेक्षा की जाती है कि इमारत को कम से कम उतना त्वरण सह सकने में सक्षम होना चाहिए।

सुनामी : किसी सागर के अंदर भारी उथल पुथल जैसे बड़े भूकंप अथवा ज्वालामुखी विस्फोट के कारण उठने वाली विशाल तरंगें।

संदर्भ

1. बी. बोल्ट, अर्थ क्वेक, डब्ल्यू. एच. फ्रीमैन एंड कम्पनी, न्यूयॉर्क, 1993
2. रमेश चंदर एंड प्रियम्बदा सिंह 'दि एक्टिविटी आफ अर्थक्वेक' रिज़ोनेंस, 30-39, जून 2000।
3. रमेश चंदर 'वैगनर एंड हिज़ थ्यौरी आफ कॉंटिनेंटल ड्रिफ्ट' रिज़ोनेंस पृष्ठ 24-41, जुलाई 1999
4. एच.ली. ग्रांड, ड्रिफ्टिंग कॉंटिनेंट्स एंड शिफ्टिंग थ्यौरीज़, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज 1988
5. रमेश चंदर, दि डिबेट अबाउट द एज आफ अर्थ, रिज़ोनेंस पृष्ठ

52-60, मई 1999
6. रमेश चंदर, कैन डैम्स एंड रेज़रवॉयर्स कॉज़ अर्थक्वेक? ट्रिगरिंग, अर्थक्वेक, रिज़ोनेंस पृ.4-13, नवम्बर 1999
7. ए. जे. सेगीथ एंड रविन्द्र कुमार, अल्फ्रैड वैगनर- फ्रॉम कॉन्टिनेन्टल ड्रिफ्ट टु प्लेट टेक्टॉनिक्स, रिज़ोनेंस पृष्ठ 43-59, जून 2005
8. अर्थ क्वेक रिसर्च इन इंडिया, अर्थ सिस्टम साइंस डिवीज़न, डिपार्टमेंट आफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, गवर्मेंट आफ इंडिया
9. सुबोध महंती, द वायलेंट अर्थ : अर्थक्वेक, वॉल्कैनोज़ एंड सुनामी, विज्ञान प्रसार, नोएडा, 2009
10. अर्थक्वेक टिप्स : लर्निंग अर्थक्वेक डिज़ाइन एंड कंस्ट्रक्शन, डिपार्टमेंट आफ सिविल इंजीनियरिंग, इंडियन इंस्टीट्यूट आफ टेक्नोलॉजी, कानपुर, 2005

➢ वैज्ञानिक (जी)
विज्ञान प्रसार
(विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग)
ए-50, इंस्टीट्यूशनल एरिया
सेक्टर-62, नोएडा-201307
ई-मेल :smahanti@vigyanprasar.gov.in,
subodhmhanti@gmail.com

HBCSE

लेसर – बीसवीं सदी का महत्वपूर्ण आविष्कार

▪ डॉ. प्रदीप कुमार मुखर्जी

लेसर बीसवीं सदी का एक महत्वपूर्ण आविष्कार है। इसने विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन के द्वार खोल दिए हैं। आज जीवन के लगभग हर क्षेत्र में लेसर का उपयोग किया जा रहा है। उदाहरण के लिए खाद्यपदार्थों और उपभोक्ता उत्पादों के पैकेटों पर बने बार कोड्स की स्कैनिंग या सीडी और डीवीडी पर अंकित चित्रों और भंडारित ध्वनियों की आडियो या वीडियो रिकॉर्डिंग करने तथा उन्हें प्ले करने के लिए लेसर प्रकाश की ही मदद ली जाती है। क्रेडिट/डेबिट कार्डों, पुस्तकों मोबाइल फोन की बैटरियों आदि पर जो धोखाधड़ी से बचने के लिए होलोग्राम स्टिकर लगे होते हैं उनकी रिकॉर्डिंग होलोग्राफी तकनीक द्वारा की जाती है जिसमें लेसर का इस्तेमाल होता है। लेसर प्रिंटर डेटा को कहीं अधिक तीव्रता तथा असाधारण गुणवत्ता के साथ मुद्रित करने में सक्षम है।

लेसर के और भी अनेक क्षेत्रों जैसे चिकित्सा-विज्ञान, दूरसंचार, उद्योगों, रक्षाविज्ञान, अंतरिक्ष विज्ञान, कम्प्यूटरों आदि में अनेक उपयोग हैं। सचमुच लेसर ने हमारी ज़िंदगी को नाटकीय रूप से बदल डाला है। लेसर की मदद से अब हम वे कार्य भी करने में सक्षम हैं जिन्हें कभी असंभव समझा जाता था।

लेसर क्या है?

'लाइट एम्प्लिफिकेशन बाई स्टिम्युलेटेड इमिशन आफ रेडिएशन' का ही परिवर्णी शब्द है लेसर जिसका अर्थ है विकिरण के उद्दीपित उत्सर्जन द्वारा प्रकाश का प्रवर्धन। यह प्रकाश का एक शक्तिशाली स्रोत है। जिसमें कुछ विशिष्ट अभिलक्षण पाए जाते हैं जोन साधारण प्रकाश जैसे कि टंग्सटन बल्बों या मरकरी लैंपों आदि में नहीं पाए जाते।

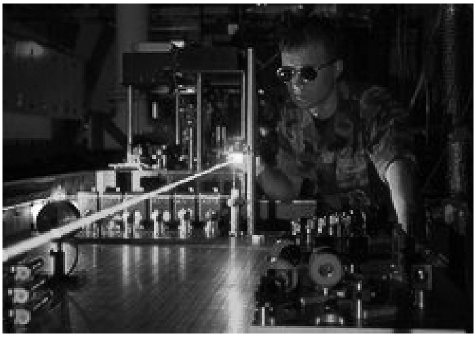

लेसर

लेसर का एक विशिष्ट गुणधर्म यह है कि इसमें एक ही वर्ण या तरंगदैर्ध्य की तरंगें मौजूद होती हैं। इस गुण को एकवर्णता (मोनोक्रोमैटिसिटी) या वर्णक्रमी शुद्धता (स्पेक्ट्रल प्योरिटी) कहते हैं। साधारण प्रकाश में अनेक वर्ण (या तरंगदैर्ध्य) होते हैं और इसलिए यह एक वर्णीय नहीं होता है। लेसर का दूसरा विशिष्ट गुणधर्म यह होता है कि इसमें उच्च कोटि की दिशात्मकता (डाइरेक्शनेलिटी) होती है। इसका मतलब यह है कि लेसर बहुत लम्बी दूरियाँ बहुत अधिक फैले बगैर तय कर सकता है। यह फैलाव रेडियन के लाखवें हिस्से यानि 10^{-5} रेडियन से भी कम हो सकता है। इसके विपरीत साधारण प्रकाश पुंज बहुत तेजी से फैलने लगती है। दरअसल प्रति एककिलोमीटर की दूरी तय करने पर साधारण प्रकाशपुंज (की गोलाई) का व्यास एक किलोमीटर से बढ़ जाता है। अगर हम कल्पना करें कि साधारण प्रकाश का चन्द्रमा, जिसकी पृथ्वी से दूरी लगभग 3,84,400 किलोमीटर है, तक पहुँच पाना संभव है तो यह प्रकाश वहाँ पहुँचते-पहुँचते इतना फैल जाएगा कि इसके पुंज का व्यास 3,84,400 किलोमीटर जितना विशाल होगा। इसके मुकाबले लेसर प्रकाश का फैलाव मात्र कुछ किलोमीटर ही होगा।

चन्द्रमा की ओर फेंकी गयी लेसर

लेसर के इस विशिष्ट गुणधर्म को काम में लाकर 1969 में अपोलो-2 के चन्द्रयात्रियों ने पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी ज्ञात की थी इसके लिए चन्द्रमा की सतह पर उन्होंने एक रिट्रोरिफ्लैक्टर (एक विशेष प्रकार का परावर्ती दर्पण जो प्रकाश को परावर्तित कर उसे उसी दिशा में स्रोत की ओर वापस लौटा देता है।) स्थापित किया था। पृथ्वी से चन्द्रमा तक एक लेसर पुंज भेजा गया। दर्पण से परावर्तित होकर यह लेसर पुंज पृथ्वी पर वापस लौट आया। लेसर पुंज द्वारा पृथ्वी से चन्द्रमा तथा चन्द्रमा से पृथ्वी

पर वापस लौटने में लगने वाले समय को मापकर चंद्रमा की पृथ्वी से दूरी को 15 सेंटीमीटर की परिशुद्धता के साथ परिकलित कर पाना संभव हुआ।

लेसर अंतरिक्ष में

लेसर प्रकाश का तीसरा गुणधर्म इसकी संबद्धता यानि कोहिरेंस है। इसकी तरंगों में आपस में पूर्ण तालमेल होता है जिसके चलते इन तरंगों में परस्पर एक नियत कला सम्बंध होता है। दरअसल, उच्च कोटि की दिशात्मकता एवं एकवर्णता ही लेसर की संबद्धता के लिए जिम्मेदार होते हैं। लेसर प्रकाश की उच्च एकवर्णता उसे कालिक संबद्धता (टेम्पोरल कोहिरेंस) जबकि उच्च दिशात्मकता उसे आकाशीय संबद्धता (स्पेशिअल कोहिरेंस) का गुण प्रदान करती है। जब दो कालिक बिंदुओं (जिनके बीच में कालिक दूरी Δt है) के बीच आपेक्षिक कालांतर का एक नियत मान रहता है तो इसे हम कालिक संबद्धता कहते हैं। जबकि आकाशीय संबद्धता का मतलब यह कि दो आकाशीय बिंदुओं (जिनके बीच में अनुप्रस्थ दूरी Δt है) के बीच आपेक्षिक कालांतर का एक नियत मान रहता है। उल्लेखनीय है कि आकाशीय संबद्धता की संकल्पना स्रोत के आकार यानि साइज़ तथा एक-कला तरंगाग्रों (यूनिफेज वेवफ्रंट्स) के साथ भी जुड़ी है। अतः लेसर प्रकाश में उच्च कोटि की कालिक एवं आकाशीय दोनो प्रकार की संबद्धता एक साथ पाई जाती है।

लेसर प्रकाश का चौथा गुणधर्म इसकी उच्च तीव्रता है। तीव्रता को शक्ति यानि पावर प्रति इकाई क्षेत्रफल से परिभाषित किया जाता है। इसे वाट प्रति वर्ग मीटर में नापा जाता है। लेसर की अधिक तीव्रतायुक्त पुंज को एक अति सूक्ष्म बिंदु के रूप में संकेन्द्रित किया जा सकता है। उद्योग में कटाई वेल्डिंग आदि कार्यों को अंजाम देने तथा लेसर संलयन में इस

गुणधर्म के महत्वपूर्ण अनुप्रयोग हैं।

अतः लेसर प्रकाश में उच्च कोटि की दिशात्मकता, एकवर्णता, संबद्धता एवं तीव्रता होती है। लेसर प्रकाश की तुलना एक ही रंग की पोशाक पहने कदम से कदम मिलाकर एक ही दिशा में चलने वाले सैनिकों से की जा सकती है। इसके विपरीत साधारण प्रकाश का व्यवहार भिन्न-भिन्न रंगों के वस्त्र धारण किए तथा अलग अलग दिशाओं में बिना किसी आपसी तालमेल के चलने वाली भीड़ की तरह होता है।

लेसर का आविष्कार थियोडोर हेरॉल्ड मैमन ने 16 मई 1960 को किया था। इसे किसी सक्रिय माध्यम के अणु-परमाणुओं या आयनों को उद्दीप्त करके पाया जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा उद्दीपित उत्सर्जन (स्टिम्युलेटेड इमिशन) होता है जिससे अंततः प्रकाश का प्रवर्धन होता है। अल्बर्ट आइंस्टाइन ने ही 1917 में सबसे पहले उद्दीपित उत्सर्जन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। लेकिन तीन दशकों से भी अधिक समय तक यह सिद्धान्त महज़ सिद्धान्त ही रहा क्योंकि इसे किसी व्यावहारिक अनुप्रयोग में लगा पाना संभव नहीं हुआ।

लेसर का पूर्ववर्ती मेसर

लेसर का आविष्कार **मेसर** के आविष्कार के बाद ही संभव हुआ। **चार्ल्स हार्ड टाउन्स** ने ही मेसर का आविष्कार किया था। इस आविष्कार का विचार उन्हें एक पार्क में बेंच पर बैठे-बैठे सूझा था।

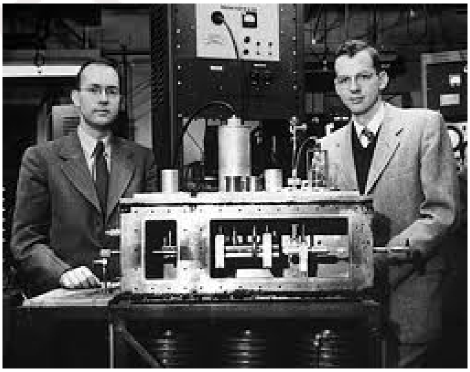

मेसर

आइंस्टाइन द्वारा प्रतिपादित उद्दीपित उत्सर्जन के सिद्धान्त को कार्य रूप में लाकर टाउन्स को 1954 में सूक्ष्मतरंगों यानि माइक्रोवेव्स के प्रवर्धन में सफलता मिली। इस युक्ति को मेसर नाम दिया गया जो माइक्रोवेव

एम्प्लिफिकेशन बाई स्टिम्युलेटेड इमिशन आफ रेडिएशन का ही परिवर्णी शब्द है।

यह महज़ एक संयोग था कि मास्को के लेबदेव इंस्टीट्यूट में कार्य करने वाले दो रूसी वैज्ञानिक एलेक्ज़ेंडर प्रोखोरोव और निकोलाई वासोव भी उन्हीं दिनों स्वतंत्र रूप से इसी दिशा में ही सोच रहे थे। लेकिन टाउन्स को ही प्रथम मेसर के विकास में सफलता मिली। इस आविष्कार के लिए टाउन्स के साथ प्रोखोरोव और वासोव को भी 1964 में भौतिकी का नोबेल पुरस्कार संयुक्त रूप से प्रदान किया गया था।

लेसर का विकास

सन 1958 में टाउन्स ने आर्थरच श्वालो, जो उनके बहनोई थे, के साथ संयुक्त रूप से फिज़िकल रिव्यू नामक जर्नल में एक शोध पत्र प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने यह विचार रखा था कि मेसर सिद्धान्त का विस्तार प्रकाशीय आवृत्तियों के लिए किया जा सकना संभव है। इस विचार के पीछे यह अवधारणा निहित थी कि सूक्ष्मतरंगों की तरह प्रकाश तरंगों को एक युक्ति, जिसे उन्होंने प्रकाशीय मेसर (जो बाद में लेसर कहलाया) नाम दिया, द्वारा प्रवर्धित किया जा सकता है।

उन्हीं दिनों गॉर्डन गाउल्ड भी इसी समस्या पर कार्य कर रहे थे। ऐसा सुनने में आता है कि 1959 में हुए कॉन्फ्रेंस में प्रस्तुत अपने शोध पत्र में गाउल्ड ने ही पहले-पहल लेसर शब्द का प्रयोग किया था। लेकिन अमेरिका के कैलिफोर्निया स्थित ल्यूग्स रिसर्च लैबोरेटरी में कार्यरत थियोडोर मैमन को ही 16 मई 1960 को प्रथम कार्य करने वाले लेसर के विकास में सफलता मिली इसके लिए मैमन ने रूबी क्रिस्टल की एक बेलनाकार छड़ का प्रयोग किया था जिससे स्पेक्ट्रम के दृश्य परिसर में लाल रंग का लेसर प्रकाश उत्पन्न हुआ था।

लेसर क्रिया का सिद्धान्त

लेसर क्रिया यानि लेसर एक्शन के सिद्धान्त को समझने के लिए हमें सबसे पहले उद्दीपित उत्सर्जन तथा समष्टि प्रतिलोमन यानि पॉपुलेशन इनवर्जन की संकल्पनाओं को स्पष्ट रूप से समझना होगा। ये दोनों तकनीकी संकल्पनाएँ हैं जिन्हें हम सरल रूप से समझाने का प्रयास करेंगे।

कोई भी परमाणु उर्जा को अवशोषित और उत्सर्जित दोनों ही कर सकता है। जब कोई परमाणु ऊर्जा को अवशोषित करता है तो वह

उत्तेजित अवस्था (एक्साइटेड स्टेट) में जा पहुँचता है। इस प्रक्रिया को अवशोषण कहते हैं। लेकिन उत्तेजित अवस्था में परमाणु 10 नैनोसेकेण्ड यानि 10^{-8} सेकेंड जितनी अत्यल्प अवधि तक के लिए ही रह सकता है। इसके बाद परमाणु अपनी पूर्व अनुत्तेजित अवस्था में लौटकर फोटॉन का उत्सर्जन करता है। इस प्रक्रिया को स्वत :स्फूर्त उत्सर्जन कहते (स्पॉन्टेनियस इमिशन) कहते हैं।

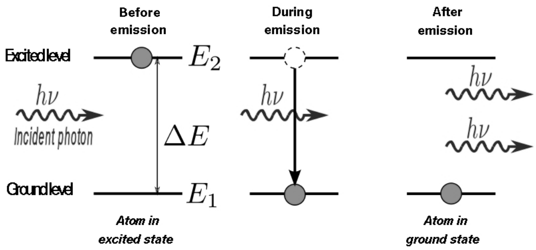

$$E_2 - E_1 = \Delta E = h\nu$$

स्पॉन्टेनियस इमिशन

उपर्युक्त दोनों प्रक्रियाओं के अलावा एक तीसरी प्रक्रिया भी संभव है। कोई बाह्य फोटॉन किसी उत्तेजित (अवस्था वाले) परमाणु के साथ टकराकर उसे फोटॉन के उत्सर्जन के लिए उद्दीप्त कर सकता है। इस प्रक्रिया को उद्दीपित उत्सर्जन कहते हैं। लेकिन इसके लिए एक ज़रूरी शर्त यह है कि बाह्य फोटॉन की ऊर्जा परमाणु की उत्तेजित एवं निम्नतम इन दोनों अवस्थाओं की ऊर्जाओं के अंतर के बराबर होनी चाहिए।

उद्दीपित उत्सर्जन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि उत्सर्जित होने वाले फोटॉन की तरंगदैर्ध्य (या आवृत्ति) बाह्य फोटॉन की तरंगदैर्ध्य के बराबर होती है तथा ये दोनों फोटॉन एक ही कला यानि फेज़ में होते हैं। अगर इस प्रक्रिया को दुहराया जाए तो अधिक से अधिक परमाणुओं को फोटॉनों के उत्सर्जन के लिए उद्दीप्त किया जा सकता है। इस प्रक्रिया द्वारा प्रकाश का प्रवर्धन होता है और लेसर प्रकाश की उत्पत्ति होती है।

लेकिन लेसर क्रिया के लिए उद्दीपित उत्सर्जन के अलावा एक और शर्त, जिसे पॉपुलेशन इन्वर्जन कहते हैं, भी ज़रूरी है। सामान्य स्थिति में निम्नतम ऊर्जा अवस्था में परमाणुओं की संख्या उत्तेजित अवस्था वाले परमाणुओं की तुलना में अधिक होती है। लेकिन किसी उपाय से इस स्थिति को उलट दिया जाए तो उत्तेजित अवस्था वाले परमाणुओं की

संख्या निम्नतम अवस्था वाले परमाणुओं की संख्या से अधिक हो जाएगी। इसे ही पॉपुलेशन इनवर्जन की स्थिति कहते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पॉपुलेशन इनवर्जन के लिए मितस्थायी अवस्था का होना अत्यावश्यक है। यह निम्नतम और उत्तेजित अवस्थाओं के बीच की एक मध्यवर्ती अवस्था है जिसका जीवनकाल (10^{-3} सेकेंड) उत्तेजित अवस्था के जीवनकाल (10^{-8} सेकेंड) के मुकाबले कहीं अधिक होता है। परिणामस्वरूप मितस्थायी अवस्था में परमाणु कुछ अधिक काल के लिए ठहरते हैं और इस तरह पॉपुलेशन इनवर्जन की स्थिति उत्पन्न होती है जो लेसर क्रिया के लिए एक आवश्यक शर्त है।

लेसर उत्पन्न करने की युक्ति

लेसर प्रकाश को उत्पन्न करने वाली किसी भी युक्ति में मुख्य रूप से तीन घटक होते हैं: 1) लेसर प्रकाश उत्पन्न करने वाला सक्रिय माध्यम (एक्टिव मीडियम), 2) पंपन स्रोत (पंपिग सोर्स) प्रकाशीय/कोटर, तथा 3) अनुनादक (आप्टिकल/कैविटी रेज़ोनेटर)।

सक्रिय माध्यम ठोस, द्रव गैस या अर्धचालक आदि किसी भी रूप में हो सकता है। यह लेसर क्रिया के लिए अणु, परमाणु या आयन उपलब्ध कराता है। माध्यम के आधार पर विभिन्न प्रकार के लेसरों का आविष्कार किया गया है। पंपन सोर्स का काम सक्रिय माध्यम को ऊर्जा प्रदान करना होता है। ज़िनॉन या क्रिप्टॉन फ्लैश लैम्प अथवा विद्युत ऊर्जा का प्रयोग पंपन स्रोत के रूप में किया जाता है। इसके अलावा रासायनिक अभिक्रियाओं द्वारा उत्पन्न ऊर्जा का इस्तेमाल भी पंपन स्रोत के रूप में किया जा सकता है। पंपन स्रोत से ऊर्जा को ग्रहण कर सक्रिय माध्यम में मौजूद अणु, परमाणु या आयन अपनी न्यूनतम अवस्था से उत्तेजित अवस्था में चले जाते हैं।

सक्रिय माध्यम में मौजूद मितस्थायी अवस्था के कारण पॉपुलेशन इनवर्जन की स्थिति उत्पन्न होती है जिसके चलते उद्दीपित उत्सर्जन होता है। उद्दीपित उत्सर्जन द्वारा जो फोटॉन उत्पन्न होते हैं प्रकाशीय या कोटर अनुनादक द्वारा उनका प्रवर्धन होता है। कोटर अनुनादक में दो दर्पण लगे होते हैं। जिनमें से एक की परावर्तकता शत प्रतिशत जबकि दूसरे दर्पण की परावर्तकता 90 प्रतिशत या इससे कम होती है। उद्दीपित उत्सर्जन से उत्पन्न फोटॉन दोनों दर्पणों से टकराकर सक्रिय माद्यम से बार-बार आगे-पीछे गति करते हुए प्रवर्धित होते हैं और अंततः कम परावर्तकता वाले

दर्पण से लेसर प्रकाश बाहर निकलता है।

विभिन्न प्रकार के लेसर

प्रथम लेसर के विकास के लिए टी.एच. मैमन ने रूबी क्रिस्टल यानि एक ठोस पदार्थ का इस्तेमाल किया था। बाद में लेसर प्रकाश को उत्पन्न करने के लिए गैस, द्रव, अर्धचालक आदि का इस्तेमाल भी किया गया। हालांकि आज बड़ी संख्या में विभिन्न किस्म के लेसर उपलब्ध हैं लेकिन लेसर को उत्पन्न करने की टेक्नोलॉजी के आधार पर मोटे तौर पर उन्हें हम सात वर्गों में बांट सकते हैं। ये सात वर्ग हैं- ठोस अवस्था लेसर, गैस लेसर, द्रव या डाई लेसर, अर्धचालक लेसर, रासायनिक लेसर, गैस डायनमिक लेसर तथा फ्री इलेक्ट्रॉन लेसर।

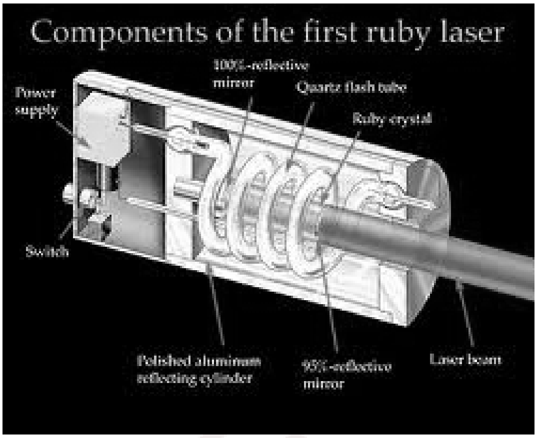

प्रथम रूबी लेसर

मैमन द्वारा विकसित रूबी लेसर से लाल रंग का प्रकाश उत्पन्न होता है जो स्पेक्ट्रम के दृश्य परिसर में स्थित होता है। लेकिन दृश्य प्रकाश के अलावा कुछ लेसर पराबैंगनी जबकि कुछ लेसर अवरक्त परिसर में भी प्रकाश उत्पन्न करते हैं। इसके अलावा एक्स-रे लेसर जिससे एक्स किरणें उत्पन्न होती हैं तथा रामन लेसर आदि के विकास में भी वैज्ञानिकों को सफलता मिली है।

एक्स-रे लेसर

रामन लेसर की क्रियाविधि भारतीय नोबेल पुरस्कार विजेता भौतिकविद् सी.वी. रामन द्वारा खोजे गए रामन प्रभाव पर आधारित होती है। अन्य लेसरों से रामन लेसर इस प्रकार भिन्न होता है कि इसमें पॉपुलेशन इनवर्जन के बिना भी लेसर क्रिया संपन्न होती है। आजकल

HBCSE

वैज्ञानिक कुछ उन्नत किस्म के लेसर, जैसे नैनोलेसर, क्वाँटम डॉट लेसर आदि बनाने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। नैनोलेसर के विकास के लिए वैज्ञानिक कणाभों (क्वैसाई पार्टिकल्स), जिन्हें पृष्ठ प्लाज़मॉन कहते हैं, का सहारा ले रहे हैं। ये पृष्ठ प्लाज़मॉन प्रकाश को अवशोषित कर सतह पर गति करते हुए अवशोषित ऊर्जा को उत्सर्जित कर सकते हैं। उल्लेखनीय है कि नैनो लेसर के विकास से और भी तीव्र गति से कार्य करने वाले कम्प्यूटरों का विकास तथा अधिक विश्वसनीय इंटरनेट की सेवाएँ प्राप्त करना संभव हो सकेगा।

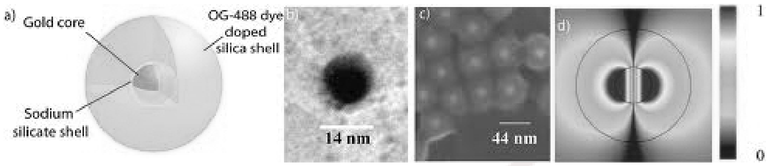

नैनोलेसर

क्वांटम डॉट लेसरों के विकास में क्वांटम डॉट्स, जो अर्धचालकों से बने नैनोक्रिस्टल होते हैं, को इस्तेमाल में लाया जा रहा है। फिलहाल इस कार्य के लिए सिलिकॉन से बने क्वांटम डॉट्स का इस्तेमाल वैज्ञानिक कर रहे हैं और इसमें उन्हें कुछ सफलता भी मिली है।

लेसर के अनुप्रयोग

दैनिक जीवन से लेकर विभिन्न क्षेत्रों में लेसर के अनेक अनुप्रयोग हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में लेसर का इस्तेमाल मोतियाबिंद के आपरेशन तथा दृष्टिदोष दूर करने के लिए लेसिक सर्जरी में होता है। अपने स्थान से हटे रेटिना को पुनर्स्थापित करने में भी लेसर का प्रयोग होता है।

कॉस्मेटिक सर्जरी

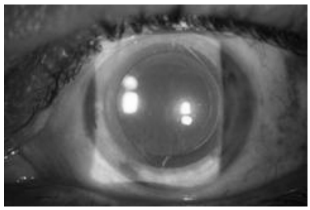
मोतियाबिंद

दंत चिकित्सा तथा लेसर एंजियोप्लास्टी द्वारा हृदय की धमनियों

HBCSE

की रुकावट दूर करने में भी लेसर की मदद ली जाती है। गुर्दे की पथरी को लेसर द्वारा बिना चीर-फाड़ किए शरीर से बाहर निकाला जा सकता है। **कॉस्मेटिक सर्जरी** में भी लेसर का इस्तेमाल किया जाता है।

लेसर एंजियोप्लास्टी

उद्योगों में भी धातुओं की कटाई तथा समान और असमान धातुओं की वैल्डिंग में लेसर की मदद ली जाती है। हीरे जैसे कठोर पदार्थ में छेद करने के लिए भी लेसर का उपयोग किया जाता है। वस्त्र उद्योग में लेसर की मदद से वस्त्रों की परिशुद्धतापूर्वक कटाई की जासकती है।

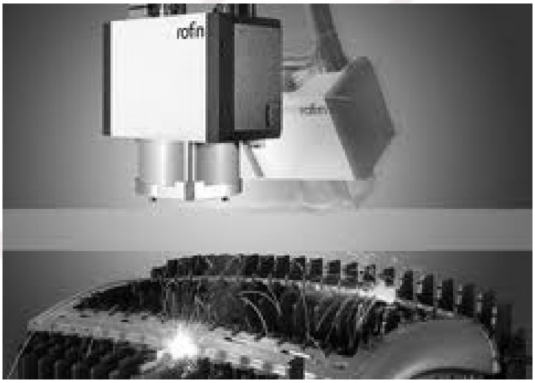

धातुओं की वैल्डिंग

लेसर की मदद से तंतु प्रकाशिक संचार प्रणाली का विकास संभव हुआ जिससे संचार प्रौद्योगिकी में क्रान्ति आ गई है। सूचना एवं आँकड़ों का द्रुत गति से संचरण संभव बनाकर इसने एक विश्वसनीय संचार प्रणाली का दर्जा हासिल किया है। रक्षा विज्ञान एवं युद्ध में भी लेसर के महत्वपूर्ण अनुप्रयोग हैं। लेसर प्रणाली की मदद से दुश्मन की मिसाइलों का पता लगाकर उन्हें नष्ट किया जा सकता है। लेसर रेंजिंग द्वारा पानी के नीचे स्थित पनडुब्बियों का पता लगाया जा सकता है। लेसर प्रिंटिंग ने मुद्रण के क्षेत्र में एक अतुलनीय उदाहरण प्रस्तुत किया है। इससे बहुत ही

सुंदर प्रिंटिंग प्राप्त होती है। विश्व भर में पुस्तकों की छपाई तथा अन्य स्तरीय मुद्रण कार्य में लेसर प्रिंटर का व्यापक रूप से इस्तेमाल हो रहा है।

लेसर प्रिंटर

सर्वेक्षण, भूकंप के पूर्वानुमान, पर्यावरण प्रदूषण तथा मौसम विज्ञान सम्बंधी अध्ययनों में भी लेसर के अनेक अनुप्रयोग हैं। मौसम एवं प्रदूषण सम्बंधी अध्ययनों के लिए लिडार, जो लेसर राडार का संक्षिप्त रूप है, का विकास किया गया है। इसकी मदद से वायुमण्डल में मौजूद धूल कणों तथा अन्य प्रदूषक कणों के बारे में पता लगाया जा सकता है। वायुमण्डल की दृश्यता के बारे में भी लिडार द्वारा लगाया जा सकता है। इस तरह मौसम विज्ञान सम्बंधी अध्ययनों में भी लिडार बड़ा उपयोगी साबित हो रहा है।

HBCSE

लेसर राडार

कृषि विज्ञान भी लेसर के अनुप्रयोंगों से अछूता नहीं रहा है। लेसर की मदद से कुछ फसलों के बीजों के उगने की दर बढ़ाई जा सकती है

तथा फसलों को भी अपेक्षाकृत जल्दी प्राप्त किया जा सकता है। लेसर की मदद से त्रिविमीय (3-डी) होलोग्राफी की तकनीक भी विकसित की गई है। इस तकनीक के ज़रिए चित्रों में लम्बाई और चौड़ाई के अलावा गहराई का भी आभास मिलता है। होलोग्राफी अपने आप में एक स्वतंत्र क्षेत्र है जिसमें काफी अनुसंधान कार्य हो रहा है। होलोग्राफी तकनीक द्वारा होलोग्राम भी बनाए जाते हैं। इन्हें प्लास्टिक स्टिकरों की तरह क्रेडिट/डेबिट कार्डों, पुस्तकों, मोबाइल फोन की बैटरियों आदि पर लगाया जाता है ताकि उपभोक्ताओं को नकली माल की धोखाधड़ी से बचाया जा सके।

खाद्य पदार्थ के पैकेटों, उपभोक्ता वस्तुओं तथा पुस्तकों आदि पर कुछ हल्की और कुछ गहरे रंग की धारियाँ बनीं होती हैं जिन पर वस्तुओं की कीमत और तत्सम्बंधी जानकारी अंकित होती है। इन्हें बार कोड्स कहते हैं। लेसर की मदद से बार कोड्स की स्कैनिंग की जा सकती है तथा साथ जुड़े कम्प्यूटर पर उत्पाद की सारी जानकारी आ जाती है। वैज्ञानिक अनुसंधान कार्यों में भी लेसर के अनुप्रयोग हैं। भौतिकी में स्पेक्ट्रोस्कोपी एवं तापनाभिकीय संलयन के क्षेत्रों में लेसर की महत्वपूर्ण भूमिका है। रसायनविज्ञान में समस्थानिकों (आइसोटोप्स) को अलग करने, पदार्थों में मौजूद अशुद्धता के मापन एवं अतितीव्र (अल्ट्राफास्ट) रासायनिक अभिक्रियाओं के अध्ययन में लेसर का इस्तेमाल किया जाता है।

विज्ञान के कुछ मूल सिद्धान्तों को परखने के लिए भी लेसर का इस्तेमाल किया जा रहा है। यहाँ हम विशेष रूप से माइकैल्सन-मोर्ले प्रयोग की चर्चा करना चाहेंगे जिसे 1887 में परिकल्पित माध्यम ईथर की संकल्पना की जाँच परख के लिए अंजाम दिया गया था। लेकिन इस प्रयोग का नकारात्मक परिणाम ही प्राप्त हुआ था। इसकी व्याख्या के रूप में अल्बर्ट आइंस्टाइन ने यह बताया कि निर्वात में प्रकाश का वेग स्थिर रहता है जो उनके आपेक्षिकता के विशिष्ट सिद्धान्त की आधारभूत अवधारणा है।

लेसर के आविष्कार के बाद माइकेल्सन-मोर्ले प्रयोग को फिर से दुहराया गया। इस प्रयोग में हीलियम-नियॉन लेसर की दो किरणें इस्तेमाल में लाई गई थीं। इनमें से एक किरण परिकल्पित ईथर की दिशा में तथा दूसरी किरण को उसके लंबवत दिशा में भेजा गया था। इन दोनों किरणों का एक प्रकाश संसूचक द्वारा संसूचन करने पर उनकी आवृत्तियों में कोई भी अंतर नहीं पाया गया। अगर यथार्थ में ईथर नामक माध्यम का अस्तित्व होता तो संसूचक द्वारा आवृत्तियों में अंतर अवश्य पकड़ में

आता। इस तरह लेसर द्वारा किए गए प्रयोग से ईथर की संकल्पना निराधार साबित हुई और आइंस्टाइन के आपेक्षिकता के विशिष्ट सिद्धान्त पर एक बार फिर से पुष्टि की मुहर लगी।

लेसर के कमाल तथा इसके अनुप्रयोगों के विस्तृत दायरे को देखकर लगता है कि किस्से कहानियों में अलादीन के जिस चिराग का जिक्र हम सुनते आए हैं, लेसर के रूप में विज्ञान ने आज वही जादुई चिराग हमें दे दिया है। भविष्य में लेसर के और भी अनुप्रयोग विकसित होने की संभावना है।

➢ एसोशिएट प्रोफेसर
भौतिकी विभाग
देशबंधु कॉलेज
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
कालकाजी
नई दिल्ली-110019
ई-मेल :pkm_du@rediffmail.com

HBCSE

मृदा स्वास्थ्य प्रबन्धन: एक वैज्ञानिक विवेचन

▪ डॉ. रमेश चन्द्र तिवारी

मृदा, भूमि या मिट्टी का अभिप्राय पृथ्वी के उस ऊपरी परत से है जो शैलों के प्राकृतिक कारकों द्वारा अपक्षय से बनी है जिसमें कार्बनिक पदार्थ पाया जाता है और जो पेड़ पौधों की वृद्धि माध्यम है। इसी मृदा से हमें भोजन वस्त्र ईंधन, औषधि तथा लकड़ी मिलती है। वायुमण्डल, थलमण्डल, जैवमण्डल तथा जलमण्डल के एक साथ सक्रिय होने से मृदा बनती है। ढाई सेन्टीमीटर ऊपरी मृदा के विकसित होने में सैकड़ों वर्ष लगते हैं। अतः यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा कि मृदा एक प्राकृतिक पिण्ड है जो प्रकृति द्वारा निर्मित है।

स्वस्थ मृदा

जीवों का कच्चा माल : मृदा

पृथ्वी के समस्त जीवों को पहला भोजन पेड़ पौधे ही बनाकर देते हैं तथा सभी पोषक खनिज तत्व मृदा से ही प्राप्त होते हैं। जिन सत्रह पोषक तत्वों से पेड़ पौधों का जीवन चक्र पूरा होता है उनमें से 14 खनिज तत्व केवल मृदा से ही मिलते हैं। इन्हीं खनिज तत्वों में चार पाँच तत्व और मिला दें (सोडियम, कोबाल्ट, सेलेनियम तथा वैनेडियम) तो प्राणियों का जीवन चक्र पूरा होता है। अतः यह स्पष्ट है कि हमारे पोषण का आधार मृदा ही है। खनिज पोषक तत्वों का मृदा में कमी का परिणाम जीवों का अस्वस्थ होना है।

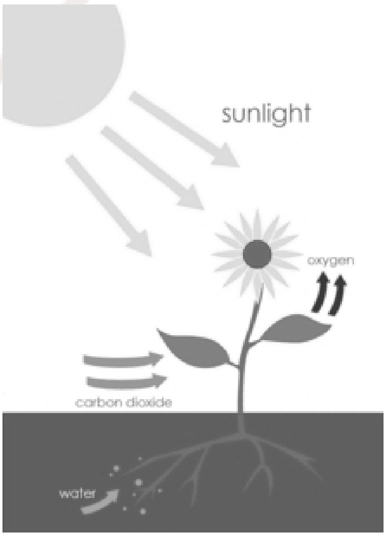

प्रकाश संश्लेषण

अतः यह कहा जा सकता है कि **मृदा अस्वस्थ** है तो जीवों का अस्वस्थ होना अवश्यसंम्भावी है।

HBCSE

अस्वस्थ मृदा

मृदा स्वास्थ्य मापदण्ड

मृदा स्वस्थ है या अस्वस्थ, उसकी जानकारी उसके गुणधर्मों के मापदण्डों के आधार पर की जाती है। ये गुणधर्म हैं;

1. भौतिक (कणाकार, संरचना, मृदा जल-वायु-ताप)
2. रासायनिक (पीएच. मान, विद्युत चालकता, लवणता, पोषक तत्वों की कुल विनिमेय तथा उपलब्ध मात्रा)
3. जैविक (कार्बनिक पदार्थ, सूक्ष्मजीव (जीवाणु, फफूँद, ऐक्टिनोमाइसिटीस, माइकोराइजा, शैवाल आदि) कीट पतंगे आदि)

बलुई दोमट मिट्टी

बलुई दोमट मिट्टी अधिकांश फसलों के लिए उपयुक्त मानी जाती है। बलुई तथा चिकनी मिट्टी विशेष प्रबंधन द्वारा ही फसलोत्पादन के लिए उपयुक्त होती है। अच्छे रंध्राकाश वाली तथा अच्छी जलधारण वाली मृदा सर्वोत्तम होगी। पीएच. मान 6.5 से 7.5 वाली मृदा सामान्य मानी जाती है। इस मान के नीचे की मृदा अम्लीय तथा ऊपर मान वाली मृदा क्षारीय होती हैं। इन्हें भी विशेष प्रबंध चाहिए। मृदा की उर्वरता उसमें उपलब्ध पोषक तत्वों की संतुलित आपूर्ति क्षमता होती है। 0.75 प्रतिशत से कम कार्बनिक कार्बन वाली मृदा निम्नीकृत होगा। भारत की अधिकांश मृदाओं में कार्बनिक पदार्थ की घट रही मात्रा फसलोत्पादन में गिरावट का एक प्रमुख कारण है। ऐसा इसलिए क्योंकि मृदा के 15-16 गुणधर्मों को अनुकूल बनाए रखने में कार्बनिक पदार्थ की प्रमुख भूमिका होती है। सूक्ष्मजीवों की अल्पता या उनका लोप होना उत्पादन घटाता है। लाभकारी जीवाणु, फफूँद आदि फसलोत्पादन को बनाए रखते हैं। मृदा के गिरते स्वास्थ्य का प्रमुख कारण मृदा में कार्बनिक पदार्थों की कमी का होना है।

कौन पोषक तत्व मृदा में न्यून : भारतीय मृदाओं में 90 प्रतिशत में नाइट्रोजन की कमी है। लगभग 50% मिट्टियों में फॉस्फोरस तथा 36 प्रतिशत में पोटाश न्यून है। अधिकांश जलोढ़ मृदाओं में जिंक की कमी है। गंधक (सल्फर) की व्यापक कमी की सूचनाएँ हैं। कार्बनिक कार्बन की मात्रा 0.2 से 0.30 प्रतिशत तक गिरकर अतिन्यून हो गई है जो मृदा उर्वरता को अत्यधिक प्रभावित कर रही है।

मृदा स्वास्थ्य गिरावट के प्रमुख कारण : मृदा का अपरदन (erosion) उसके निम्नीकृत करने का प्रमुख स्रोत है। प्रतिवर्ष लगभग 533 करोड़ टन मृदा के अपरदन की सूचनाएँ हैं। इसका लगभग 29 प्रतिशत समुद्र में समा जा रहा है। उर्वरक के माध्यम से जितना पोषक तत्व मृदा में डाला जा रहा है उसकी आधी मात्रा प्रतिवर्ष अपरदन के कारण नष्ट हो रही है। असंतुलित उर्वरक प्रयोग, पोषक तत्वों की नकारात्मक भरपाई, गलत विधि से प्रयोग उत्पादन तो घटा ही रहा है, साथ ही साथ मृदा स्वास्थ्य निम्नीकरण की ओर जा रहा है। अधिक तथा परिपूर्ण जुताई मृदा संरचना को घटिया कर रहा है। भारी कृषि यंत्र मृदा में कठोर परत का निर्माण कर हानि पहुँचा रहे हैं। अधिक एवं अंधाधुंध सिंचाई द्वितीयक लवणता का कारण बन रही है। कृषि रसायनों का गलत प्रयोग मृदा को विषाक्त बना रहा है।

कटाव 1

कटाव 2

कटाव 3

आधुनिक **कृषि का रासायनिक** तथा यांत्रिक निवेशों पर आधारित हो जाना मृदा स्वास्थ्य में गिरावट का कारण बन रहा है। **मृदा प्रदूषण** एक जटिल समस्या का रूप ले रही है।

कृषि रसायन

मृदा प्रदूषण

मृदा स्वास्थ्य कैसे सुधरे : मृदा का समन्वित पोषक तत्व प्रबंधन उसके सुधार तथा टिकाऊ होने का एक सशक्त मार्ग है। (चित्र सं 3) इसके लिए मृदा परीक्षण जलवायु तथा फसल के अनुसार रासायनिक उर्वरक दिया जाय तथा जहाँ जो उपलब्ध हो कार्बनिक खादों का भरपूर तथा लगातार प्रयोग किया जाना चाहिए। दलहनी फसलों को फसलचक्र (crop rotation) में लाना हरी खाद के रूप में समावेश तथा अन्तरवर्ती (intercrop) के रूप में अपनाया जाय। जैव उर्वरकों का प्रयोग कार्बनिक पदार्थ की मात्रा बढ़ाएगा तथा रासायनिक उर्वरकों की खपत घटेगी।

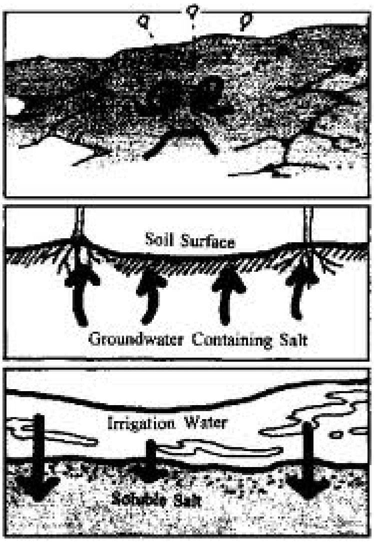

मृदा लवणता

मृदा को लवणता से बचाएँ : सिंचाई के लिए बौछारी तथा टपक सिंचाई का प्रचलन बढ़ाकर एक तरफ जहाँ जल बचेगा तो दूसरी तरफ द्वितीयक लवणता का खतरा कम हो जाएगा। कम पानी चाहने वाली फसलें उगायी जाएं तथा जल का का सही प्रबंधन किया जाए। मेड़बंदी जैसे कार्यों से जलसंरक्षण किया जाना चाहिए। मृदा प्रदूषण पर अंकुश लगाया जाए।

मृदा स्वास्थ्य का परीक्षण : मृदा परीक्षण का अभियान चला कर स्वास्थ्य परीक्षण किया जा रहा है। मृदा स्वास्थ्य कार्ड बनाकर कृषकों को दिया जा

रहा है। मृदा परीक्षण प्रयोगशालाओं की संख्या बढ़ाई जा रही है।

मृदा स्वास्थ्य परीक्षण-1

मृदा स्वास्थ्य परीक्षण-2

राष्ट्र की सम्पन्नता मृदा स्वास्थ्य से जुड़ी है। इसके लिए त्वरित गति से कृषकों को मृदा स्वास्थ्य प्रबंधन की जानकारी दी जा रही है। सबको इसमें हाथ बँटाना चाहिए। नहीं तो यह कहावत कहीं सही ना हो जाए कि "जिस घर, गाँव, राष्ट्र की मृदा खराब हो जाए तथा संस्कृति में घटियापन हो जाए तो वह या तो पराधीन होंगे या नष्ट हो जाएँगे।" समय रहते मृदा स्वास्थ्य सुधार राष्ट्र को सम्पन्नता प्रदान करेगा।

पर्याप्त खाद्य पदार्थ शुद्ध भूमिगत जल, खनिज प्राप्त करने मृदा सूक्ष्मजीवों के रूप में जीन बैंक, तथा अन्य आयामों को ठीक रखने के लिए मृदा का स्वास्थ्य ठीक रखना सबकी जिम्मेदारी है।

"पेड़ लगाएं, मृदा बचाएं, राष्ट्र को हम समृद्ध बनाएं"

"धूल समझ कर करें ना भूल, मिट्टी है जीवन का मूल"

➢ पूर्व विभागाध्यक्ष
मृदा विज्ञान विभाग
कृषि विज्ञान संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

HBCSE

जीवनोपयोगी सूक्ष्ममात्रिक तत्व

▪ डॉ. शिवगोपाल मिश्र

सूक्ष्ममात्रिक तत्व (micronutrients) वे तत्व हैं जो पौधों, सूक्ष्म जीवों अथवा पशुओं के लिए अत्यल्प (सूक्ष्म, micro) मात्रा में आवश्यक होते हैं। इन्हें लेश तत्व (trace elements) भी कहते हैं। पादप पोषण के सन्दर्भ में ऐसे तत्व जिनकी मात्रा पोषक विलयन (nutrient solution) में 1 अंश प्रति दस लक्षांश (पीपीएम) से कम होती है और अनिवार्यता की कसौटी में खरे उतरते हैं, उन्हें सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की श्रेणी में रखा जाता है। पशुकार्यिकी के सन्दर्भ में ऐसे समस्त तत्व जिनकी आवश्यक मात्रा लौह की मात्रा से कम होती है, वे सूक्ष्ममात्रिक तत्व कहलाते हैं।

अत्यल्प मात्रा में पाये जाने या आवश्यक होने पर भी विभिन्न सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की सान्द्रताओं में काफी अन्तर पाया जाता है- (1 से कई 100 अंश प्रति दस लक्षांश) और वे कई उपश्रेणियों में विभाजित किये जाते हैं। उदाहरणार्थ पशुओं में इनकी चार कोटियाँ बनाई गई हैं- अपरिहार्य (Essential), प्रायशः अपरिहार्य (Probably essential), विषैले (Toxic) तथा अक्रिय (Inactive)। पौधों तथा सूक्ष्मजीवों में भी ऐसा ही विभाजन सम्भव है।

आज सर्वसम्मति से सूक्ष्ममात्रिक तत्वों के अन्तर्गत जिन छह तत्वों को सम्मिलित किया जाता है, वे हैं - Cu, Zn, Mn, Fe, B तथा Mo ।

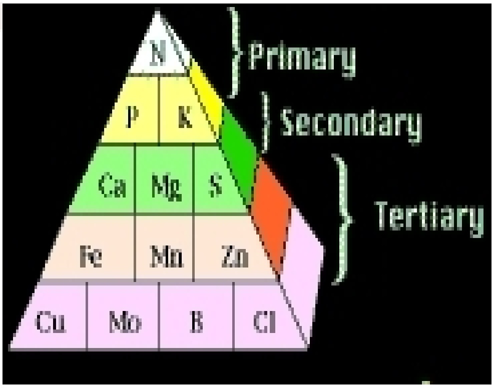

सूक्ष्ममात्रिक तत्व

इनके अतिरिक्त Cl भी उच्चतर पौधों के लिए आवश्यक सिद्ध हो चुका है। कुछ दलहनी फसलों के लिए Co तथा कुछ विशिष्ट पौधों के लिए Na भी आवश्यक पाया गया है। इसी प्रकार I, Se, Ni, V, Cr, आदि तत्व किसी न किसी रूप में पशुओं तथा पौधों में समान रूप से उद्दीपक पाये गए हैं। सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की संख्या में निरन्तर वृद्धि को देखते हुए आर्नन (1957) का विचार था कि आवर्त-सारिणी का प्रत्येक तत्व, विशेष रूप से वह जो पादप ऊतकों में पाया जाता है, कभी न कभी पौधों के लिए अनिवार्य सिद्ध हो सकता है। आर्नन तथा स्टाउट (1939) ने अनिवार्यता के तीन मापदण्ड निर्धारित किए हैं।

कोई भी तत्व तब तक अनिवार्य नहीं माना जायेगा जब तक,

1.ऐसे तत्व की न्यूनता के कारण पौधों को अपना जीवन-चक्र, कायिक या पुनर्जनन पूरा करना सम्भव नहीं हो पाता।

2.यह न्यूनता विचाराधीन तत्व के लिए विशेष होती है और उसकी क्षतिपूर्ति उसी तत्व को प्रदान करके की जा सकती है।

3.ऐसा तत्व पादप पोषण में प्रत्यक्ष भाग लेता है। साथ ही यह तत्व मिट्टी या अन्य संवर्ध माध्यम की रासायनिक अवस्था में या प्रतिकूल सूक्ष्मजैविक अवस्था में सुधार ला सकता है।

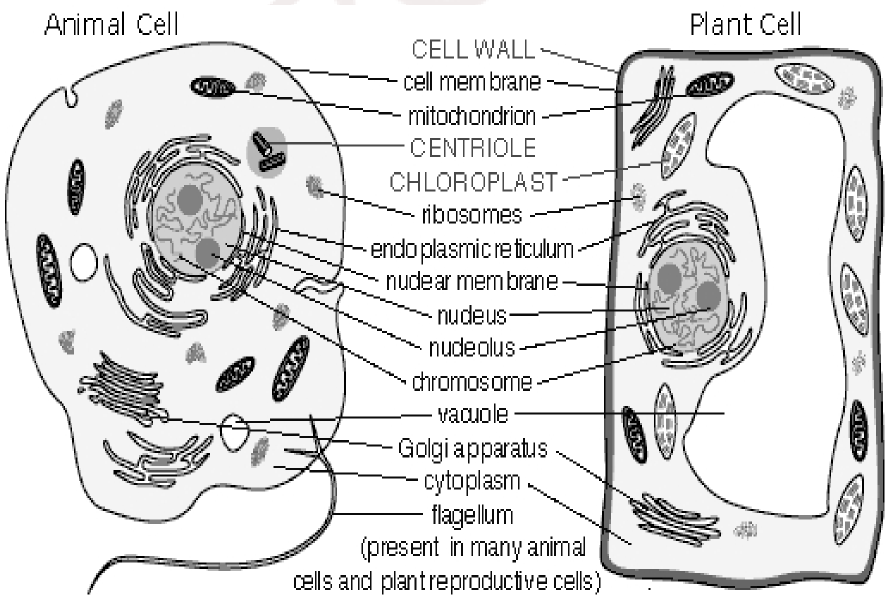

जंतु एवं पादप कोशिका

इनमें से प्रथम मापदण्ड का कार्यिकी महत्व है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पादप जीवन चक्र होने के लिए अकार्बनिक तत्व की आवश्यकता है। दूसरे मापदण्ड का महत्व यह है कि कोई भी न्यूनता रोग उसी तत्व के छिड़काव से दूर होता है जिसकी न्यूनता से वह उत्पन्न हुआ है। उदाहरणार्थ, मॉलिब्डनम न्यून पौधों में मॉलिब्डिक अम्ल के तनु विलयन का छिड़काव करते ही पौधे पूर्ववत् हरे-भरे हो गए। पशुओं में सर्वप्रथम 1928 में चूहों के लिए ताम्र अनिवार्य पाया गया। बाद में स्तनी वर्ग तथा पक्षी वर्ग के लिए Mn तथा Zn अनिवार्य पाये गये। जल तथा आहार में आयोडीन की कमी से कंठमाला (घेंघा) रोग के फैलने तथा मिट्टियों और चरागाहों में Co की कमी से भेड़ों तथा पशुओं में क्षयकारी (Wasting) रोग होने की सूचना आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैण्ड से प्राप्त हुई। पशुओं में Se तथा Mo की अधिकता से तरह-तरह के भयानक रोग उत्पन्न होने की सूचनाएँ प्राप्त हैं। इस प्रकार पहले जहाँ लौह तथा आयोडीन ही पशुओं के लिए अनिवार्य माने जाते थे, वहीं अब कम से कम 8 तत्व अनिवार्य माने जा रहे हैं। ये हैं Mg, Mn, Zn, Fe, Ca, I, Mo तथा Se । इनमें से I तथा Se को छोड़कर शेष सभी तत्व एंजाइमों के सक्रिय कारक (activators) हैं। आयोडीन की उपयोगिता थायरॉक्सिन हार्मोन बनने तथा Se की आवश्यकता सामान्य स्वास्थ्य और जीवन के लिए है।

सारणी

मिट्टियों में सूक्ष्ममात्रिक तत्व	(अंश/दशलक्षांश)
Cu	2-100
Zn	10-300
Mn	100-4000
Mo	0.2-5.0
B	2-100
Fe	7000 -500,000
Co	1-40
Cr	5-3000
V	20-500
Se	0.1-2.0
I	0.6-8.0
As	1-50
Cd	0.01-0.7
Hg	0.01-0.3

सूक्ष्ममात्रिक तत्वों में कोई व्यवस्था नहीं दिखती। उदाहरणार्थ छह तत्वों में से चार प्रथम संक्रमण समूह की धातुएं हैं। एक (Mo) द्वितीय संक्रमण समूह की भारी धातु है और एक (B) अधातु है। इनकी परमाणु संख्याएँ क्रमशः 25, 26, 29, 30, 42 तथा 5 हैं। न तो ये अत्यन्त हल्के हैं, न अत्यन्त भारी।

इनकी संयोजकताएँ 2, 3 तथा 6 तक हैं। इनमें से द्विसंयोजी आयनों का आकार समान तो है किन्तु उनके बन्धनों की आयनी प्रकृति में प्रचुर अन्तर पाया जाता है। द्विसंयोजी आयनों में Mn^{+2} तथा Fe^{+2} ही परस्पर प्रतिस्थापनीय हैं। Mo^{+6} तथा B^{+3} के आकार लघु हैं लेकिन ये उच्च आवेश से युक्त हैं फलतः ये सहसंयोजक बन्ध बनाते हैं। फलतः ये मुख्यतः आक्सी-ऋणायनों के रूप में पाए जाते हैं।

आयन	ऋणायन
Fe^{++}, Fe^{++}	BO_3^{---}, $HB_4O_7^{--}$
Mn^{++}	$HMoO_4^{-}$, MoO_4^{--}
Cu^{++}	Se O_4^{---}
Zn^{+}	Cl^{-}, Br^{-}, I^{-}

इन तत्वों में से ताम्र के कार्बोनेट तथा सल्फाइड सर्वाधिक अविलेय हैं किन्तु ज़िंक के ये ही यौगिक कुछ-कुछ विलेय हैं। लौह के सल्फाइड अत्यधिक अविलेय हैं।

भूगर्भ रसायन की दृष्टि से Fe तथा Mn, ये ही दो तत्व हैं जिनमें प्रचुर साम्य मिलता है। इनके कोई कोई यौगिक विलेय नहीं हैं अतः ये गतिशील तत्व माने जाते हैं जबकि Hg, Pb तथा Au इनसे सर्वथा भिन्न समुदाय के हैं।

उपस्थिति की दृष्टि से Fe, Mn, Cu तथा Zn; ये चार तत्व बैसाल्टी/लावा में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं, जबकि Mo तथा B ग्रेनाइट शैलों में संकेन्द्रित हैं। इसका कारण Fe^{+2}, Mn^{+2} तथा Zn^{+2} की त्रिज्याओं का समान होना है किन्तु Mo तथा B सिलिकेट खनिजों की क्रिस्टली संरचना में फिट नहीं हो पाते। भूपर्पटी में मुख्यतः बैसाल्ट, ग्रेनाइट तथा शैल रहते हैं और मिट्टी की औसत संरचना भूपर्पटी के ही समान है अतः मिट्टियों में ये छह तो सूक्ष्ममात्रिक तत्व पाये जाते हैं।

हाजसन ने सूक्ष्ममात्रिक तत्वों को उनके रसायन विज्ञान की दृष्टि से तीन समूहों में विभाजित किया है-

1. वे भारी धातु धनायन जो मिट्टी के कार्बनिक या अकार्बनिक पृष्ठों पर दृढ़ता से अभिग्रहीत रहते हैं और अन्य धातुओं को प्रतिस्थापित करते हैं। यथा Cu तथा Zn ।

2. वे सूक्ष्ममात्रिक तत्व जो उपरोक्त विधि से मिट्टी द्वारा अभिग्रहीत तो होते हैं किन्तु उनके द्विसंयोजी रूप अधिक दृढ़ता से नहीं बंधे रहते। इनके अन्तर्गत Fe तथा Mn के नाम लिए जा सकते हैं। यह द्विसंयोजी रूप उच्चतर संयोजकता अवस्था पर आक्सीकृत होकर परम अविलेय यौगिक (यथा फॉस्फेट) बनाता है।

3. वे सूक्ष्ममात्रिक तत्व जो मिट्टी द्वारा ऋणायन के रूप में ग्रहीत रहते हैं, यथा B तथा Mo ।

उपर्युक्त वर्गीकरण मिट्टी में उनकी उपलब्धि पर आधारित है। कोई भी पोषक पदार्थ पौधे द्वारा धनायन या ऋणायन के रूप में ही ग्रहीत होता है। धनायन रूप में वह एकाकी रूप में रहता है किन्तु ऋणायन रूप प्राप्त करने के लिए उसे प्रायः अन्य तत्वों के साथ संयोग करना पड़ता है। फलस्वरूप सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की दो श्रेणियाँ हुईं (अपवादस्वरूप हैं Cl^-, Br^- तथा I^-) ।

स्टाइनबर्ग ने तत्वों की परमाणु संरचना तथा उनकी जैवअनिवार्यता के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। आवर्त-सारणी में ऐसे अनिवार्य तत्वों की संख्या प्रत्येक समूह में न तो तीन से कम और न तीन से अधिक है। जिन समूहों में यह संख्या इससे कम है उनके ये तत्व अभी भी ज्ञात होने हैं। इसी आधार पर उन्होंने भविष्यवाणी की कि Si अनावश्यक तत्व है किन्तु कोलम्बियम अनिवार्य सिद्ध हो सकता है।

इस तरह सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की परिवर्तनशील संयोजकताएँ अथवा उनमें वाह्य कक्षा में मौजूद इलेक्ट्रॉनों की संख्या ही उनकी कार्यशीलता तथा विशिष्टता के लिए उत्तरदायी है।

- :सूक्ष्ममात्रिक तत्वों के कुछ लाक्षणिक मान :-

तत्व	परमाणु संख्या	परमाणु भार	आयनिक त्रिज्या
Cu	29	63.546	Cu^{+}0.96, Cu^{+2}0.72
Zn	30	65.38	Zn^{+2} 0.74
Mn	25	54.938	Mn^{+2} 0.80
Fe	26	55.847	Fe^{+2} 0.74 Fe^{+3} 0.67
B	5	10.81	0.23
Mo	42	95.94	0.62
Cl	17	35.45	1.81
I	53	126.90	2.16
Ni	28	58.71	0.78
Se	34	78.96	Se^{-2} 1.91
Co	27	58.93	0.82
Pb	82	207.2	Pb^{+4} 0.84
Cr	24	51.93	0.64
V	23	50.90	0.65

HBCSE

सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की उपलब्धता

मिट्टी में कोई भी तत्व कितनी ही मात्रा में क्यों न उपस्थित हो किन्तु जब तक पौधों द्वारा ग्राह्य अवस्था में नहीं रहता तब तक पौधे को उसका कोई लाभ नहीं मिल पाता। अतः जो तत्व पौधे के लिए जितनी ही सुगमता से प्राप्त हो सकता है वह उतना ही उपलब्ध या प्राप्य माना जाता है। अतः एक ओर जहाँ उपलब्धि को पौधे की क्षमता का सूचक कहा जाता है, वहीं वह किसी तत्व की ऐसी अवस्था की भी द्योतक है जिससे पौधे उस तत्व को ग्रहण कर सकें।

मिट्टी में विलयन रूप में तत्वों की उपस्थिति मृदा विलयन को जन्म देती है। जब तक पौधों को इस विलयन में से कोई तत्व सरलता से उपलब्ध होता रहता है तब तक उसकी वृद्धि सुचारू रूप से होती रहती है और उनके रासायनिक विश्लेषण से किसी प्रकार की न्यूनता परिलक्षित नहीं होती। किन्तु जैसे ही उपलब्धि असन्तोषजनक हुई नहीं कि पौधों में न्यूनता लक्षण (Deficiency symptoms) प्रकट होने लगते हैं और उनकी वृद्धि या तो घट जाती है या रुक जाती है। लेकिन तत्वों की उपलब्धि का यह तो प्राकृतिक रंग ढंग है। कृषि रसायनज्ञों ने सतर्क प्रयोगों द्वारा पौधों की खनिज शोषण विधि का अनुकरण करने का यत्न किया है। उन्होंने विशिष्ट निष्कर्षकों (extractants) का उपयोग करके पौधों द्वारा ग्रहीत मात्रा और इस प्रकार से निष्कर्षित तत्वों की मात्रा में पारस्परिक सम्बन्ध ढूँढने का प्रयास किया है।

सामान्य मिट्टी में तत्वों की जल विलेय मात्रा बहुत ही कम रहती है किन्तु पौधे लगातार बढ़ते चले आए हैं अतः वे अवश्य ही अन्य स्रोतों से तत्वों को प्राप्त करते होंगे। यदि कोई ऐसा निष्कर्षक ज्ञात हो सके जो पौधे का निकटशः अनुकरण कर सके तो वह आदर्श निष्कर्षक होगा, किन्तु ऐसा बहुत कम देखा जाता है। मिट्टियाँ अपने भौतिक तथा रासायनिक गुणों में भिन्न होती हैं। अतः कोई भी ऐसा निष्कर्षक जो किसी एक विशेष प्रकार मिट्टी के लिए सर्वांशतः उपयुक्त हो, वही अन्य प्रकार की मिट्टी के लिए सर्वथा अनुयुक्त सिद्ध हो सकता है। इसीलिए मिट्टियों की रासायनिक संरचना से सम्बन्धित विभिन्न कारकों को ध्यान में रखकर सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की उपलब्धि पर विचार करना तर्क संगत होगा।

मिट्टियों में कई प्रकार के कारकों का प्रभाव पड़ता है जिसके कारण अविलेय यौगिक विलेय बनते हैं और विलेय यौगिक अविलेय।

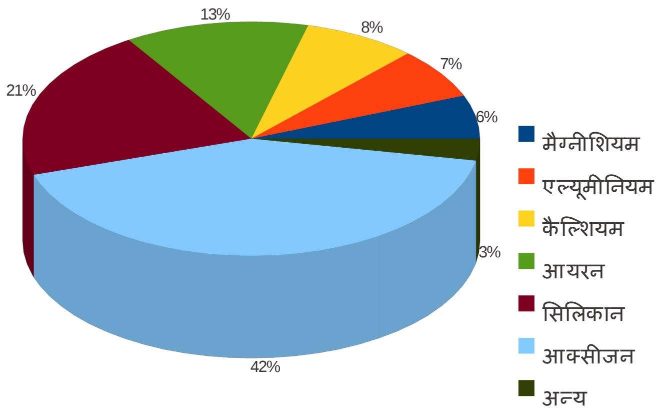

मृदा का रासायनिक संघटन

प्रमुख कारक निम्नवत् हैं

1. पीएच,
2. कैल्सियम कार्बोनेट की उपस्थिति 3. सेस्बी आक्साइडों की उपस्थिति 4. मिट्टियों में मृत्तिका तथा मृत्तिका खनिजों की मात्रा तथा 5. कार्बनिक पदार्थ या ह्यूमस। इनके अलावा ताप, नमी की मात्रा, वातीय अवस्था तथा समय (अवधि) का भी प्रभाव पड़ता है। किन्हीं किन्हीं अवस्थाओं में मिट्टी के सूक्ष्मजीवों और मिट्टी में डाले गए उर्वरकों तथा प्रयुक्त की जाने वाली कृषि पद्धतियों का भी प्रभाव पड़ना सम्भव है। मिट्टी में विद्यमान कैल्सियम कार्बोनेट अथवा अन्य विलेय कार्बोनेटों के कारण मिट्टी का पी-एच बढ़ जाता है। अधिक पी-एच होने पर हाइड्राक्सिल आयनों की प्रचुरता हो जाती है जो सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की विलेयता को प्रभावित करते हैं। सेस्क्वी आक्साइड सूक्ष्ममात्रिक तत्वों के अधिशोषण में आधार का काम करते हैं। अन्ततोगत्वा मिट्टी में इन तत्वों की विलेयता प्रभावित होती है।

1.मिट्टियों में पी-एच 7.3 नीचे Cu की प्रमुख प्रजाति Cu^{+2} है किन्तु यदि पी-एच इससे अधिक बढ़ जाए तो प्रमुख प्रजाति $CuOH^{+}$ हो जाती है। इसी पी-एच पर ताम्र के कार्बनिक संकुल भी विलेय हो जाते हैं। यही कारण है कि उच्च पी-एच पर ताम्र की विलेयता पर्याप्त रहती है किन्तु Zn की नहीं। मिट्टी में ज़िंक के दो अविलेय यौगिक बनते हैं, $ZnCO_3$ तथा $Zn(OH)_2$, किन्तु मिट्टी में इनकी विलेयता मिट्टी में प्राप्य ज़िंक से

लाख गुना अधिक है। फलतः अविलेय यौगिक बनने पर भी जिंक विलेय दशा में प्राप्त होता रहेगा। हाँ, ज़िंक की विलेयता पर फॉस्फेट का बुरा प्रभाव पड़ता है। बहुत समय तक इसका कारण $Zn_3(PO_4)_2.4H_2O$ का बनना माना जाता रहा जो अविलेय है। किन्तु इधर की खोजों से यह स्पष्ट हो चुका है कि $ZnCO_3$ या $Zn(OH)_2$ की तुलना में $Zn(PO_4)_2.4H_2O$ कम विलेय है किन्तु मिट्टी के प्राकृतिक ज़िंक (Zn-मिट्टी) से यह कहीं अधिक विलेय है अतः यह उर्वरक का काम कर सकता है।

मैंगनीज़ केवल अम्लीय अवस्थाओं या अपचायक (जलमग्न अवस्थाओं) में विलेय (Mn^{+2}) रहता है। जैसे-जैसे पी-एच बढ़ता है विलेयता घटती जाती है। पी-एच की प्रति इकाई वृद्धि पर Mn^{+2} की विलेयता में 100 गुना ह्रास होता है। MnO_2 अत्यधिक अविलेय होने पर भी मिट्टी में विलयित होता रहता है यदि इसके साथ साथ लौह अवक्षिप्त हो। इसका कारण है लौह का आक्सीकरण और MnO_2 में से विलेय Mn^{+2} की उत्पत्ति। कैल्शियम प्रचुर मिट्टियों में Mn की न्यूनता होनी स्वाभाविक है फिर भी मिट्टियों में ऐसा कम ही होता है।

लौह की विलेयता लौह के हाइड्रस आक्साइडों की विलेयता पर निर्भर है। पी-एच परिवर्तित होने पर कुल Fe^{+3} में ह्रास आता है। इसकी सबसे कम मात्रा 6.5 - 8.0 पी-एच परास में रहती है। पी-एच 8 से ऊपर होने पर मुख्यतः $Fe(OH)^{4-}$ आयन उपस्थित रहता है। पी-एच में इकाई वृद्धि होने पर Fe^{+3} की सक्रियता में 1000 गुना ह्रास आता है। कम पी-एच पर मुख्यतः Fe^{+2} पाया जाता है। पी-एच 7.8 पर Fe^{+2} तथा Fe^{+3} की समान सान्द्रताएं (10^{-21}M) पाई जाती हैं। सुवातित मिट्टियों में Fe^{+2} का आक्सीकरण Fe^{+3} में होता रहता है अतः अपचित दशाओं में ही जल विलेय Fe^{+2} में वृद्धि होगी। फॉस्फेटों की उपस्थिति में बहुत सा लौह फॉस्फेटों के रूप में अविलेय हो सकता है किन्तु मिट्टी में लोहे की मात्रा $Fe(OH)_3$ के रूप में इतनी अधिक होती है कि मिट्टी में जो थोड़ा फॉस्फेट होता है उससे लौह अवक्षेपित होने के बाद भी विलेय लौह का साधन बना रहता है।

मॉलिब्डेनम तथा बोरॉन ऋणायन के रूप में प्रकट होते हैं। क्षारीयता में वृद्धि के साथ ही विलेय मॉलिब्डेट आयन MoO_4^{-2} में वृद्धि होती है अतः क्षारीय मिट्टियों में इसकी प्रचुरता होगी। पी-एच में इकाई वृद्धि से

MoO_4^{-2} में 100 गुना वृद्धि पाई गई है। फिर भी लौह आक्साइड तथा कैल्सियम कार्बोनेट की उपस्थिति में मॉलिब्डेट की विलेयता घटती है।

मिट्टियों में बोरॉन H_3BO_3 के रूप में रहता है। जब पी-एच 9.2 के ऊपर होता है तो H_3BO_3 आयनों की प्रधानता पाई जाती है। प्रायः क्षारीय मिट्टियों में बोरॉन अत्यधिक उपलब्ध रहता है।

मिट्टियों का कार्बनिक पदार्थ धातु आयनों के साथ स्थायी रूप से संयोजित होता है। मिट्टी में मुख्यतया ह्यूमिक अम्ल, फल्विक अम्ल, पॉलीफीनोल, कार्बनिक अम्ल, प्रोटीन तथा शर्कराएँ- विविध कार्बनिक यौगिक हैं। ये मिट्टी में सूक्ष्मजीवों द्वारा कार्बनिक पदार्थों के विघटन से उत्पन्न होते हैं। ऐसा अनुमान है कि फल्विक अम्लों तथा कार्बनिक अम्लों के संयोग से बने धातुकीलेट विलेय होते हैं किन्तु ह्यूमिक अम्ल के संयोग से अविलेय धातुकीलेट बनते हैं। कार्बनिक पदार्थों के साथ अभिक्रिया के समय व्यवधान डालने वाला कारक मृत्तिका (Clay) है। कोई भी सूक्ष्ममात्रिक तत्व पहले कार्बनिक पदार्थ द्वारा अधिशोषित होगा, तब मृत्तिका खनिजों के साथ उसका अधिशोषण होगा। Cu इसका उदाहरण है।

संकुलों के स्थायित्व के बारे में इर्विन विलियम्स (1945) की स्थायित्व-श्रेणी का सर्वाधिक महत्व है।

$$Cu > Ni > Co > Zn > Fe > Mn$$

इसके अनुसार धातु संकुलों का स्थायित्व परमाणु संख्या में वृद्धि होने के साथ साथ बढ़ता जाता है और यह Cu पर सर्वोच्च होता है। इसके बाद यह घटकर Zn पर न्यूनतम हो जाता है। किन्तु मिट्टियों में उक्त श्रेणी के विपरीत परिणाम मिलते हैं। उदाहरणार्थ Fe तथा फल्विक अम्ल का संकुल अत्यधिक स्थायी है। हमारे प्रयोगों से (1974) यह स्पष्ट हुआ है कि अभिग्रहीत Cu या Zn में बहुत ही कम कार्बनिक पदार्थ द्वारा बंधित होता है इसका कारण भारतीय मिट्टियों में कार्बनिक पदार्थ का निम्न स्तर हो सकता है। किन्तु मृदा ताम्र के प्रभाजन के फलस्वरूप प्राप्त परिणाम से प्राकृत ताम्र का काफी अंश कार्बनिक संयोग में विद्यमान प्रतीत होता है।

उर्वरकों के रूप में

कुछ मिट्टियों-यथा बलुही, मक तथा पीटयुक्त मिट्टियों में सर्वप्रथम

अमेरिका में सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की न्यूनताएँ देखी गईं। अधिक काल तक गहन खेती करते रहने से, भूमि को निरन्तर समतल करते रहने अथवा ठीक से भूमि प्रबन्ध न होने से, तथा अधिक मात्रा में चूना या विभिन्न उर्वरकों के प्रयोग से भी ऐसी समस्या उत्पन्न होती रहती है। सर्वप्रथम 1920 में अमेरिका के फ्लोरिडा प्रान्त में ताम्रन्यूनता के कारण उपज में कमी देखी गई। धीरे-धीरे अन्य सूक्ष्ममात्रिक तत्वों के बारे में सूचनाएँ प्राप्त होती रहीं। उच्च पी-एच तथा अधिक लवण की उपस्थिति से दक्षिणी पश्चिमी अमेरिका में Fe, Mn तथा Zn सम्बन्धी समस्याएँ भी सम्मुख आईं। आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैण्ड में भी ऐसी समस्याएँ आईं तो उनका हल निकाला गया। विशिष्ट मिट्टियों में विशिष्ट फसलें उगाने के उद्देश्य से सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की आवश्यकता का पता लगाया गया। भारत में भी 1970 के बाद सूक्ष्ममात्रिक तत्वों पर शोध कार्य शुरू हुआ।

अब तो मिट्टियों में सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की मात्राओं विशेषतः न्यूनताओं का पता लगाकर मानचित्र तैयार किए जा चुके हैं जिनके आधार पर सूक्ष्ममात्रिक तत्वों का प्रयोग उर्वरक के रूप में किया जा सकता है। चूँकि सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की अत्यल्प मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। अतः केवल इन्हीं को उर्वरक के रूप में अलग से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। फलतः ऐसे उर्वरक तैयार होने लगे हैं जिनमें सूक्ष्ममात्रिक तत्व भी मिले रहते हैं। ऐसे उर्वरक जिनमें एक या अधिक सूक्ष्ममात्रिक तत्व मिले रहते हैं, प्रीमियम ग्रेड के नाम से अभिहित होते हैं।

यह भलीभांति ज्ञात है कि सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की वास्तविक न्यूनता प्रकट होने या उसकी पहचान होने के पूर्व उपज में प्रचुर ह्रास हो चुका होता है और वर्षानुवर्ष गहन कृषि करते रहने से समस्या उग्र से उग्रतर होती जा रही है। फलस्वरूप इससे काफी आर्थिक हानि होती है। सूक्ष्ममात्रिक तत्वों का उर्वरक रूप में प्रयोग चार प्रकार से हो सकता है-

1. सीधे मिट्टी में डालकर
2. छिड़काव द्वारा
3. बीजों को सिक्त करके, तथा
4. इंजेक्शन द्वारा।

सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की संस्तुत मात्राएँ निम्नवत हैं-

Cu 5-20 किग्रा. प्रति हेक्टर ($CuSO_4$ के रूप में)
Zn 3-15

Mn 5-20
Mo 0.03 - 0.12
B 0.5-4.0
Fe 10-20 या 40 पीपीएम

ये मात्राएँ विभिन्न स्रोतों से प्राप्त की जा सकती हैं। आजकल सूक्ष्ममात्रिक तत्वों के कीलेटों का प्रचलन है। विशेषतया लौह के कीलेटों की अत्यधिक मांग है। उर्वरकों में ज़िंक की सर्वाधिक मात्रा का उपयोग होता है क्योंकि धान तथा मक्का की फसलों द्वारा Zn का प्रचुर मात्रा में शोषण होता है। एक बार प्रयोग करने के बाद सूक्ष्ममात्रिक तत्वों का अवशिष्ट प्रभाव देखा जाता है।

सूक्ष्ममात्रिक तत्वों से वनस्पति जगत को लाभ

जिंक की अनुक्रिया जानने के लिए अपने देश में तमाम प्रयोग गेहूँ, धान, ज्वार तथा मक्के की फसलों पर किए गये। ज़िंक के प्रयोग से कल्याण सोना गेहूँ की उपज में प्रति हेक्टेयर 6.1-27.7 क्विण्टल तक की वृद्धि देखी गई। इसी तरह 50 किग्रा. ज़िक सल्फेट डालने से धान की उपज में प्रति हेक्टेयर 5-7 टन की वृद्धि पायी गई। क्षारीय मिट्टियों में ज़िंक न्यूनता उग्र होती है। अतः ज़िंक डालने से धान की उपज में 66-77 क्विंटल/हे. वृद्धि दर्ज की गई।

स्पष्ट है कि खाद्योत्पादन में सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की महती भूमिका है। इससे पौधे स्वस्थ्य रहते हैं, उनकी पत्तियाँ, जड़ें, फूल, फल सभ अपने सहज रूप में रहते हैं। यदि हम चाहते हैं कि फसलें निरोग रहें तो सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की समुचित आपूर्ति होती रहनी चाहिए।

अति सर्वत्र वर्जयेत

सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की अधिक मात्रा डालने या निरंतर प्रयोग करते रहने से विषालुता (Toxicity) उत्पन्न हो सकती है। Cu, Zn, Mn, B, Mo सभी की विषालुताएँ देखी गई हैं। ज्ञात हुआ है एक ही भार के Cu तथा Zn से पौधों के लिए Cu दुगुना विषालु होता है Zn की अपेक्षा। इसी तरह Ni की विषालुता Zn से 8 गुनी है। स्लज के प्रयोग से मिट्टियों में सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की विषालु मात्राएँ प्रविष्ट हो सकती हैं। निष्कर्ष के तौर पर कह सकते हैं कि सूक्ष्ममात्रिक तत्व जीवन के लिए बहुत ही आवश्यक हैं तथा उनकी अनदेखी नहीं की जा सकती।

HBCSE

सन्दर्भ

1.आर्नन, डी. आई. : (1950) Trace Elements in Plant Physiology Lotsya, 3, 31-39
2.आर्नन, पी.आर. तथा स्टाउट, डी. आई (1939) Amer. J. Botany, 26, 144
3.मिश्र, शिवगोपाल : सूक्ष्ममात्रिक तत्व, 1974, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ
4.हाजसन, जे.एफ. (1963) Advances in Agron. 15, 119-159
5.स्टाइल्स, डब्ल्यू. (1946) Trace elements in plant. Cambridge.

➢ डॉ. शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

HBCSE

विषाक्त फल और सब्ज़ियाँ

▪ डॉ. सुनन्दा दास

यह एक ज्ञात तथ्य है कि प्राकृतिक रूप से पैदा किए गए करीब सभी खाद्य पदार्थों में न्यूनाधिक विषाक्त रसायन होता है। यह केवल किसी जीव की खुराक ही है जो गैर-विषैले को विषाक्त पदार्थ से अलग करती है। उदाहरणस्वरूप जल भी यदि एक अधिक मात्रा (4-5 लीटर) में तथा अपेक्षाकृत कम समय (2-3 घण्टे) में लिया जाए तो वह शरीर के लिए विषाक्त होता है। इसे हाइपोनेट्रीमिया (Hyponatremia) कहते हैं जिसके कारण प्रमस्तिष्क फुलाव (Cerebral edema), दौरा और यहां तक कि मृत्यु भी हो सकती है।

पानी की तरह अत्यंत लाभकारी विटामिन 'ए' जो आक्सीकरण रोधी (Antioxidant) का कार्य करता है, अत्यधिक मात्रा में लेने से यकृत की विषाक्तता (Hepatotoxicity) बढ़ाता है। सब्ज़ियों या फलों में पाये जाने वाले हानिकारक रसायन, पर्यावरण प्रदूषण, गलत ढंग से उत्पादन और प्रसंस्करण या अपनी ही लापरवाही के कारण हमारे शरीर में खाद्य पदार्थों के रूप में स्वाभाविक रूप से प्रवेश करते हैं।

एक निश्चित मात्रा की विषाक्तता खाद्य-पदार्थों में जैसे करेला, मेथी, बैंगन, कद्दू, खीरा इत्यादि में सामान्यत: होती है तथा हम सब इसके अभ्यस्त होते हैं क्योंकि इनकी मात्रा काफी कम होती है। इसी कारण इनको विविध आहार के रूप में सेवन किया जाता है। ताज़े फलों और सब्ज़ियों की तुलना में क्षतिग्रस्त शाक सब्ज़ियों में अधिक विषाक्तता होती है। आमतौर पर सब्ज़ियों तथा फलों के विषैलेपन की सक्रियता का कारण मुख्यतः पृथ्वी के तापमान में अत्यधिक परिवर्तन, मृदा का कम पी.एच., आर्द्रता और उर्वरता में कमी तथा इन खाद्य पदार्थों का अधिक परिपक्व तथा अनुचित प्रकार से भण्डारण किया जाना है।

नियामक संस्थाएँ वसा, कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन कैलोरी, संभावित एलर्जी आदि के बारे में उपयोगी जानकारी उपभोक्ताओं को तो प्रदान करती हैं लेकिन विषाक्त रसायन जो कि खाद्य पदार्थों में निहित हैं या प्रसंस्करण के दौरान गठित हुए हैं, उनके बारे में कोई जानकारी नहीं देती हैं।

कुछ विषाक्त रसायनों की विषाक्तता भोजन पकाने के दौरान निष्क्रिय

HBCSE

होती है तो कहीं कम मात्रा में इन विषाक्त पदार्थों की खपत अपरिहार्य होती है। इस लेख का उद्देश्य प्राकृतिक रूप से पाए जाने वाले खाद्य पदार्थों में उपस्थित इन विषैले पदार्थों के संभावित खतरों को वर्णित किया जाना है जिससे इनके कुप्रभावों से बचा जा सके।

खुंभी (मशरूम, Mushroom)

कुकुरमुत्तों (Toadstools) के बारे में हम सभी ने सुना है और हम यह भी जानते हैं कि वे ज़हरीले होते हैं। किन्तु बहुत से लोगों को यह नहीं पता कि कुकुरमुत्ता वास्तव में एक प्रकार की खुम्भी है। 'कुकुरमुत्ता' एक ग्रामीण शब्द है जो विषाक्त खुम्भियों के लिए प्रयुक्त होता है।

खुंभी

खुंभी की विषाक्तता, **माइसेटिज़्म (Mycetism)** के रूप में जानी जाती है जिसका लक्षण पेट की मामूली गड़बड़ी होता है लेकिन कभी कभी इससे हालत बिगड़ भी सकती है। इन कवकों में विभिन्न प्रकार के विषाक्त पदार्थ मौजूद होते हैं जो इनमें विशिष्ट जैवरासायनिक चयापचय क्रियाओं द्वारा उत्पादित होते हैं। अक्सर इनके गम्भीर लक्षण खाने के तुरंत बाद परिलक्षित नहीं होते। यह कभी कभी दिनों या हफ्तों के बाद भी शरीर के अभिन्न अंगों यानि गुर्दा, यकृत आदि पर हमला करते हैं।

खुम्भियों में पाए जाने वाले विषाक्त पदार्थ और उनके घातक प्रभाव

- अमानिटा मशरूम (Amanita) में पाया जाने वाला Amanitin, खाने के 1 से 3 दिन बाद जिगर को क्षति पहुंचा सकता है।
- इसी मशरूम में पाया जाने वाला फेलोटॉक्सिन (Phallotoxin) जठरांत्र (Gastrointestine) को प्रभावित करता है।
- गाइरोमिट्रिन (Gyromitrin) गाइरोमिट्रा खुंभी (Gyromitra) में पाया जाने वाला घातक विष है जो जठरांत्र को गड़बड़ करता है तथा रक्त कोशिकाओं का विनाश एवं तंत्रिकातंत्र को क्षति पहुँचाता है।
- इरगोटेमीन (Ergotamine) अतिघातक है जो क्लेविसेप्स

(Claviceps) में पाया जाता है तथा नाड़ी तंत्र को क्षति पहुँचाता है जिसके कारण अंगों को हानि पहुंचती है तथा मृत्यु तक हो जाती है।

- इसी प्रकार मशरूमों की कई अन्य किस्में विषाक्त होती हैं। इनमें पाया जाने वाला अगेरिटीन (Agaritine) रसायन विष है लेकिन पकाने से इसकी विषाक्तता निष्क्रिय हो जाती है।
- कुछ खुंभियों में कम हानिकारक यौगिक होते हैं जिनके विष का उपचार हो सकता है। मगर कुछ मशरूम जैसे अमानिटा में इतने विषाक्त पदार्थ होते हैं कि उनकी विषाक्तता से अक्सर मौत हो जाती है।

विषाक्तता के अन्य कारण

भंडार या बगीचों में जहाँ मशरूम उगाए या भंडारित किए जाते हैं, वहाँ कीटनाशकों या खरपतवार नाशकों के छिड़काव के कारण मशरूम विषाक्त हो जाते हैं। मशरूम कभी-कभी भारी धातुओं या रेडियोधर्मी प्रदूषण द्वारा भी विषाक्त हो जाते हैं जैसा कि **चेरनोबिल आपदा** के प्रभाव से हुआ था। क्षतिग्रस्त या सड़े हुए मशरूम का उपयोग भी भोजन को विषाक्त कर सकता है। खाने योग्य मशरूम भी विषाक्त हो सकता है यदि उससे दुर्गन्ध आ रही हो या उसमें फफूँद लगा हो।

आमतौर पर खुंभियों में रेशों की अधिकता रहती है। इसलिए इसको अत्यधिक मात्रा में ग्रहण करने से अपच हो सकता है जिसको अक्सर 'विषाक्तता' का नाम दिया जाता है।

जायफल (Nutmeg)

'जायफल' एक प्रकार की 'विभ्रमित' या मिथ्याभास कराने की औषधि है। इसे हम सभी अपनी रसोई में नियमित रूप से मिष्ठान, कस्टर्ड, टार्ट केक वगैरह में इस्तेमाल करते हैं। यह एक प्रकार का विष भी है जिससे मृत्यु तक हो सकती है। कम मात्रा में इसको ग्रहण करने से शारीरिक तथा तंत्रिका प्रणाली को किसी प्रकार की क्षति नहीं होती है। जायफल में 'मिरिस्टिसीन' (Myristicin) रसायन होता है। मिरिस्टिसिन विषाक्तता हृदयगति बढ़ाता है। इससे मिचली, दौरा, निर्जलीकरण तथा शरीर में दर्द पैदा होता है तथा बेहोशी भी आ सकती है।

जायफल

लगभग दो ग्राम तक जायफल लेने से एम्फेटामिन (Amphetamine) जैसे लक्षण पैदा होते हैं जिसके कारण उल्टी, बुखार और सर दर्द भी होता है। 7.5 ग्राम तक लेने से दौरे आने शुरू होते हैं। 10 ग्राम तक लेने से मिथ्याभास जैसी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं तथा एक पूरा जायफल लेने से 'नटमेग साइकोसिस' जिससे आसन्न कयामत, विभ्रान्ति और उत्तेजित होने जैसी भावनाओं से ग्रसित होना हैं।

मिरिस्टिसीन विषाक्तता कुछ पालतू पशुओं के लिए घातक सिद्ध हुआ है। संभवतः यह मात्रा मनुष्यों के लिए हानिरहित हो जो अक्सर खाद्य पदार्थों में इस्तेमाल की जाती है। जायफल विषाक्तता से मृत्यु के दो मामले दर्ज किए गए हैं, एक 1908 में और दूसरा 2001 में।

सेब (Apple)

सेब के बीजों में सायनाइड अत्यंत कम मात्रा में मौजूद होता है जिसे हम अक्सर गलती से खा लेते हैं। हालांकि ज्यादा संख्या में उपभोग करने से मनुष्य बीमार हो सकता है तथा उसकी मृत्यु तक हो सकती है। किसी एक सेब में मौजूद चन्द बीज के दाने से किसी की मृत्यु नहीं हो सकती।

सेब

सेब के बीज में साइनोजेनिक ग्लाइकोसाइड होता है। यह एमिग्डैलिन (Amygdalin) उर्फ लेटराइल (Laetrile) तथा प्रूसिक अम्ल, और विटामिन बी-17 होता है। एमिग्डैलिन को कैंसर अवरोधी तत्व होने का दावा किया गया है। सेब खाते वक्त बीजों में उपस्थित एमिग्डैलिन आमतौर पर प्रभावित नहीं करता है क्योंकि अक्सर यह सीधे निगल लिया जाता है। बीजों को चबाने से या पाचन क्रिया के दौरान यह एमिग्डैलिन विषाक्त साइनाइड के रूप में शरीर को प्रभावित करता है।

कुछ लक्षण

एमिग्डैलिन विषाक्तता के परिणामस्वरूप खून में साइनाइड पहुँच सकता है जिससे मृत्यु तक हो सकती है। लेटराइल के वजह से यकृत परिगलन (Necrosis) यानी यकृत कोशिका की मौत होता है तथा न्यूरोमायोपैथी (Neuromyopathy तंत्रिकाओं और मांस-पेशियों की क्षति) भी होता है।

बादाम (Almond)

बादाम एक अद्‌भुत उपयोगी बीज है जिसको हम सब एक नट (Nut) के रूप में जानते हैं। इसको पकाने से इसके अद्वितीय स्वाद और इसकी उपयुक्तता के कारण सदियों से यह पेस्ट्री, मिष्ठान तथा अन्य भारतीत व्यंजनों में रसोई की सबसे लोकप्रिय सामग्री रहा है।

बादाम

हम सभी को शायद यह पता नहीं है कि सबसे स्वादिष्ट और सुगंधित कड़वा बादाम होता है न कि मीठा बादाम। ये अपनी तीव्र खुशबू की वजह से कई देशों में सबसे अधिक लोकप्रिय है। मगर एक सबसे बड़ी समस्या यह है कि ये बादाम साइनाइड से भरे होते हैं। इसलिए कड़वे बादाम के उपयोग से पहले इसको संसाधित किया जाता है। इसके बावजूद कुछ देशों में खासकर न्यूज़ीलैण्ड में कड़वे बादामों की बिक्री अवैध है। हालांकि तापमान कड़वे बादाम के विष को नष्ट करता है, पर अब संयुक्त राज्य अमेरिका में कच्चे बादाम की बिक्री को अवैध करार दिया गया है। वहाँ बादाम को विष तथा जीवाणुओं की वजह से संसाधित करके ही बाज़ार में बिक्री हेतु लाया जाता है।

HBCSE

कुछ अन्य विषाक्तताएँ

चेरी (Prunus cerosus) और उसकी अन्य प्रजातियों (Prunus sp.) जैसे आड़ू (P. persica), बेर (P. domestica), खूबानी (P. armeniaca) की पत्तियों और बीजों में 'साइनोजेनिक ग्लाइकोसाइड' होते हैं।

चेरी

मटर (Lathyrussativus) एक ऐसी फली है जिसको एशिया और पूर्वी अफ्रीका में 'फसल बीमा योजना' (Insurance crop) के तहत उगाया जाता है जिससे इसका उपयोग अकाल या दुर्भिक्ष के दौरान किया जा सके। इन फलियों में Oxyl-L-α,β--diaminopropionic acid (ODAP) होता है जिसको अगर लंबी अवधि तक लिया

मटर

जाता है तो क्षय एवं पक्षाघात तक होने की संभावना रहती है।

राजमा (Phaseolus vulgaris) में 'लेक्टिन फाइटोहीमाग्लुटिनिन' (Lectin phytohaemagglutinin) होता है जो पेट में गड़बड़ी पैदा करता है। राजमा को पकाने से, ताप से यह विषाक्त पदार्थ नष्ट हो जाता है।

राजमा

आलू (Solanum tuberosum) के पत्तों और हरे रंग के कंदों में ग्लाइकोएल्केलॉइड 'सोलानिन' (Solanin) पाया जाता है जिसका प्रकाश की उपस्थिति में निर्माण होता है। इस तरह के कंद खाने से पाचन तथा तंत्रिकातंत्र में गड़बड़ी तथा अधिक मात्रा में सेवन करने से मृत्यु तक हो सकती है।

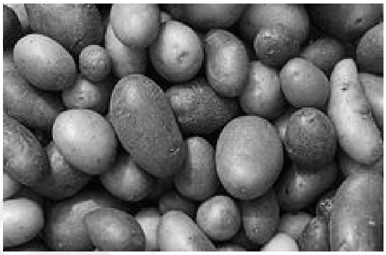

आलू

कुछ उपयोगी बातें

1. फल और सब्ज़ियों को किसी अधिकृत विक्रेता से ही खरीदें। खरीदने से पहले यह यकीन कर लें कि वे अधिक परिपक्व या खराब स्थिति में न हों।
2. अस्वास्थ्यकर हालात में उगाए हुए सब्ज़ियों या फलों का उपयोग न करें।
3. यदि फलों अथवा सब्ज़ियों का स्वाद ठीक न लगे या दिखने में सही न हों या किसी अन्य प्रकार की भिन्नता हो तो उसे फेंक दें।
4. इन खाद्य वस्तुओं के उपयोग के पहले इनको पोटैशियम परमैंगनेट या नमक के पानी में धो लें।
5. ज़रूरत के अनुसार उपयोग के पहले उन्हें छील लें।
6. फलों या सब्ज़ियों को लंबी अवधि के लिए कटा नहीं रखना चाहिए।
7. इन खाद्य पदार्थों को उपयुक्त परिस्थितियों में ही भन्डारित करें।
8. तिक्त और कसैले सब्ज़ियों के रसों को अन्य फल या सब्ज़ियों के रसों के साथ मिश्रित नहीं करना चाहिए।

9. सब्ज़ियों जैसे बीन्स, बैंगन, काली मिर्च, टमाटर इत्यादि जो गर्म जलवायु में पैदा होती हैं इन्हें 10 डिग्री सेल्सियस पर बेहतर रूप से भंडारित किया जा सकता है।
आलू में चार डिग्री सेल्सियस से ऊपर स्टार्च, शर्करा में परिवर्तित हो जाता है। इनके अंदर प्रकाश की उपस्थिति में विषाक्त एल्कालॉइड (Alkaloid) के गठन को रोकने के लिए उन्हें ठंडे और अंधेरे स्थान पर भंडारित किया जाना चाहिए। आमतौर पर अधिकांश फल और सब्ज़ियाँ शून्य डिग्री पर ताज़ा बनी रहती हैं।

कुछ अप्रत्याशित घटनाएँ

- कुछ अभिलेखों द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि 479 ई.पू. के आसपास गौतम बुद्ध (सिद्धार्थ) की मशरूम विषाक्तता के कारण ही मृत्यु हो गई थी।
- रोमन सम्राट क्लोडियस के लिए यह कहा जाता है कि उन्हें खतरनाक टोपी मशरूम खिलाकर हत्या कर दी गई थी।
- यह अफवाह है कि पोप क्लीमेंट सप्तम की भी इसी प्रकार हत्या की गई थी।
- भौतिक विज्ञानी डैनियल गैब्रियल फारेनहाइट (फारेनहाइट तापमान पैमाने के आविष्कारक) के माता-पिता की 14 अगस्त 1701 में डेनजिंग में गलती से ज़हरीला मशरूम खाने से मृत्यु हो गई थी।
- मशहूर लेखक निकोलस इवांस (लेखक: The Horse Whisperer) की मृत्यु कोर्टिनेरियस स्पीशियोसीसिमस' नामक मशरूम खाने से हुई थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक फलों तथा सब्जियों में विषाक्त रसायन मिलते हैं। उचित सावधानी तथा संसाधन से हम इनके दुष्प्रभावों से आसानी से बच सकते हैं।

➢ डॉ. सुनन्दा दास
एसोशिएट प्रोफेसर
रसायन विभाग
सी.एम.पी. डिग्री कॉलेज
इलाहाबाद

धातु संकुलः महत्व एवं उपयोगिता

▪ डॉ. अमर श्रीवास्तव

उपसहसंयोजन रसायन (Coordination Chemistry), रसायन विज्ञान, विशेष रूप से अकार्बनिक रसायन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शाखा है जिसमें उपसहसंयोजन यौगिकों का अध्ययन करते हैं। इन यौगिकों को धातु संकुल (Metal Complexes) भी कहते हैं। कार्बधात्विक रसायन (Organometallic Chemistry) एवं जैवअकार्बनिक रसायन (Bioinorganic Chemistry) जैसे रोचक एवं चुनौतीपूर्ण क्षेत्र भी इसी के अंग हैं। पिछले कुछ वर्षों में जहां इनके अध्ययन से जैविक तन्त्र के महत्वपूर्ण संघटकों की संरचना एवं कार्यविधि के बारे में जहाँ महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई, वहीं रासायनिक बन्धन एवं आणविक संरचना को समझने में भी मदद मिली। इनके अध्ययन से रासायनिक उद्योग में अभूतपूर्व क्रान्ति आयी। इन यौगिकों का उपयोग धातुओं के निष्कर्षण, विश्लेषणात्मक रसायन, चिकित्सा आदि अनेकानेक क्षेत्रों में हो रहा है। इन्हीं कारणों से उपसहसंयोजन रसायन एवं कार्बधात्विक रसायन को अकार्बनिक रसायन एवं रासायनिक उद्योग का आधारस्तम्भ माना जाता है।

धातु संकुल प्राचीन काल से ही ज्ञात है, परन्तु आधुनिक काल में अल्फ्रेड वर्नर एवं जारगेनसन सहित अनेक वैज्ञानिकों ने इनका वैज्ञानिक तौर-तरीकों से अध्ययन किया तथा इनकी संरचना एवं बन्धन आदि का वर्णन किया। अल्फ्रेड वर्नर (1866-1919), को उपसहसंयोजन रसायन का जनक कहा जाता है। उन्होंने बड़ी संख्या में उपसहसंयोजन यौगिको का निर्माण किया तथा उनकी संरचना एवं बन्धन की व्याख्या की। इस क्षेत्र में अमूल्य योगदान के लिये उन्हें वर्ष 1913 का नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

अल्फ्रेड वर्नर

क्या हैं धातु संकुल?

द्विक लवणों के ही समान धातु संकुल आणविक या योगात्मक यौगिक हैं जो दो या अधिक सामान्य लवणों के एक निश्चित अनुपात में क्रिया के

कारण उत्पन्न होते हैं। द्विक लवण जल में घोलने पर उन आयनों में वियोजित हो कर उनका परीक्षण देते हैं जिनसे वे निर्मित होते हैं, जैसे पोटाश एलम (फिटकरी) एवं मोहर लवण आदि। पोटाश एलम जल में घोलने पर अपने आयनों K^+, Al^{+3} एवं SO_4^{-2} में वियोजित होकर इनका परीक्षण देते हैं।

$$K_2SO_4\ Al_2(SO_4)_3.24H2O \rightarrow 2K^+ + 2Al^{+3} + 4SO_4^{2-} + 24H_2O$$

इसके विपरीत धातु संकुल ऐसे यौगिक हैं जो उन आयनों का प्रायः परीक्षण नहीं देते हैं जिनसे वे स्वयं निर्मित होते हैं। उदाहरण के लिए, पोटैशियम फेरोसायनाइड $K_4[Fe(CN)_6]$, को जल में घोलने पर यह पोटैशियम आयन (K^+) एवं फेरोसाइनाइड आयन $[Fe(CN)_6]^{-4}$ में वियोजित हो जाता है परन्तु फेरस आयन (Fe^{+2}) एवं सायनाइड आयन (CN^-) का परीक्षण नहीं देता है। फेरोसायनाइड आयन एक जटिल आयन (Complex ion) है जिसके गुण Fe^{+2} एवं CN^- से सर्वथा भिन्न हैं।

$$K_4[Fe(CN)_6 \rightarrow 4K^+ + [Fe(CN)_6]^{-4}$$

धातु संकुलों के केन्द्र में प्रायः एक धातु परमाणु या आयन उपस्थित रहता है जो इलेक्ट्रान प्रदान करने वाले अनेक समूहों से घिरा होता है। इन्हें लीगैण्ड (ligand) कहा जाता है। धातु लीगैण्ड से उपसहसंयोजी बन्ध के द्वारा जुडा होता है। इसीलिये सामान्यतः ये जल में वियोजित न हो सकने के कारण धातु एवं लीगैण्ड का परीक्षण नहीं दे पाते हैं। लीगैण्ड का वह परमाणु जो वास्तव में इलेक्ट्रान प्रदान करता है उसे प्रदाता परमाणु (Donor atom) कहते हैं। इसी प्रकार धातु परमाणु या आयन इलेक्ट्रान ग्राही (Electron acceptor) का कार्य करता है। दूसरे शब्दों में, लीगैण्ड लुइस क्षार एवं धातु लुइस अम्ल की भांति कार्य करता है तथा धातु संकुलों को लुइस अम्ल एवं लुइस क्षार का योगात्मक उत्पाद माना जा सकता है।

लीगैण्ड

लीगैण्ड प्रायः ऋणावेशित समूह अर्थात् ऋणायन जैसे Cl^-, CN^-,$C_2O_4^{-2}$, SO_4^{-2} या उदासीन अणु जैसे H_2O, NH_3, CO, एथिलीन डाईएमीन (en), एथिलीन होते हैं। परन्तु ये धनावेशित आयन अर्थात धनायन जैसे NO^+ (नाइट्रोसिल समूह) भी हो सकते हैं। लीगैण्ड प्राय : अपने एक परमाणु के द्वारा धातु से जुड़े होते हैं परन्तु कुछ लीगैण्ड ऐसे भी है जो दो विभिन्न

परमाणुओं के द्वारा धातु से जुड़ सकते हैं। ऐसे लीगैण्ड को एम्बीडेन्टेट लीगैण्ड (ambidentate ligands) कहा जाता है। उदाहरण के लिए, CN^- लीगैण्ड यदि अपने C परमाणु के जरिए धातु से जुड़ा हो तो उसे सायनाइड ($-CN^-$) लीगैण्ड कहेंगे परन्तु यदि यही समूह अपने N परमाणु से जुड़ा हो तो इसे आइसोसायनाइड ($-NC^-$) लीगैण्ड कहते हैं। अन्य उदाहरणों में NO_2^- एवं SCN^- लीगैण्ड का उल्लेख किया जा सकता है।

इसी प्रकार, लीगैण्ड को उनकी दन्तता (denticity) के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है कि वे धातु को कितने इलेक्ट्रान युग्म प्रदान करते हैं। जैसे- **एकदन्ती लीगैण्ड** धातु को एक इलेक्ट्रान युग्म प्रदान करते हैं जैसे Cl^-, NH_3, आदि। इसी प्रकार **द्विदन्ती लीगैण्ड** धातु को दो इलेक्ट्रान युग्म प्रदान करते हैं जैसे $C_2O_4^{-2}$, en आदि। एथिलीन डाईएमीन टेट्राएसीटिक एसिड (ईडीटीए) एक महत्वपूर्ण हेक्साडेन्टेट लीगैण्ड है जो धातु को 6 इलेक्ट्रान युग्म प्रदान करता है।

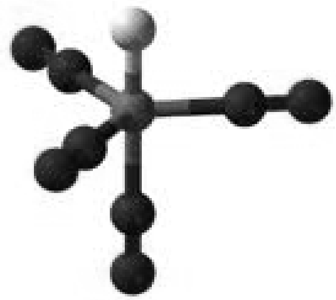

लीगैण्ड

HBCSE

कीलेशन

एक से अधिक इलेक्ट्रान युग्म प्रदान करने वाले लीगैण्ड को बहुदन्ती लीगैण्ड या कीलेटिंग लीगैण्ड (chelating ligands) भी कहते हैं क्योंकि ये धातु के साथ कीलेट रिंग बनाते हैं। किसी धातु के साथ बहुदन्ती लीगैण्ड द्वारा बनायी गयी चक्रीय सरंचना कीलेट रिंग कहलाती है तथा इस घटना को कीलेशन कहते हैं। अन्य संकुलों की तुलना में कीलेट संकुल अत्यधिक स्थायी होते हैं। कीलेट रिंग की संख्या

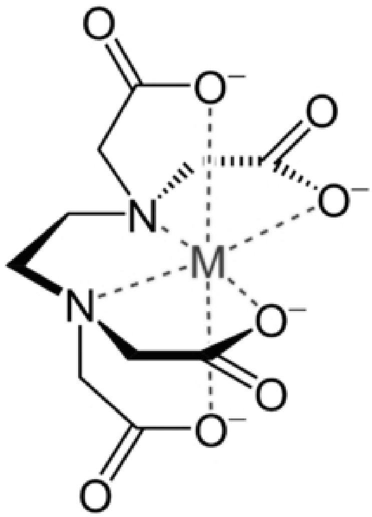

कीलेशन

जितनी अधिक होगी, धातु संकुल उतना ही अधिक स्थायी होता है। जैसे तीन कीलेट रिंग वाले ट्रिस कीलेट संकुल, दो कीलेट रिंग वाले बिस कीलेट संकुलों से अधिक स्थायी होते हैं। चूंकि ई.डी.टी.ए. धातुओं के साथ पांच कीलेट रिंग बनाता है इसलिए ई.डी.टी.ए. के द्वारा बनाये गए धातु संकुल अत्यधिक स्थायी होते हैं। यह भी पाया गया है कि 5 या 6 सदस्यीय कीलेट रिंग अपेक्षाकृत छोटे या बड़े कीलेट रिंग की तुलना में अधिक स्थायी होते हैं। कीलेट संकुलों का अधिक स्थायी होने के कारण तन्त्र की एन्ट्रॉपी में वृद्धि होना है। कीलेट प्रभाव वास्तव में एक एन्ट्रॉपी प्रभाव है।

वर्नर का सिद्धान्त

अल्फ्रेड वर्नर ने अनेकानेक धातु संकुलों का निर्माण किया तथा उनके भौतिक एवं रासायनिक गुणों तथा उनकी समावयवता आदि के बारे में अध्ययन किया। इसी आधार पर उन्होंने 1898 में धातु संकुलों से सम्बन्धित एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसके प्रमुख बिन्दु इस तरह हैं-

1- धातु के पास दो प्रकार की संयोजकताएं (Valencies) होती हैं-

(अ) प्राथमिक संयोजकता- जो आयनिक होती है तथा सदैव ऋणायनों द्वारा पूरी की जाती है। किसी धातु की प्राथमिक संयोजकता उसके ऑक्सीकरण संख्या के समान होती है।

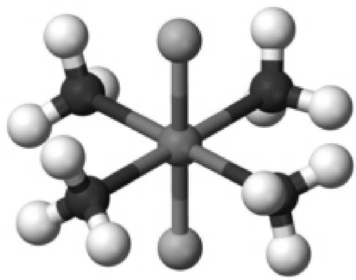

प्राथमिक संयोजकता

(ब) द्वितीयक संयोजकता- जो आयनित नहीं होती है तथा प्राय: ऋणायनों एवं उदासीन अणुओं द्वारा पूरी की जाती है। किसी धातु की द्वितीयक संयोजकता उसके उपसहसंयोजन संख्या के समान होती है।

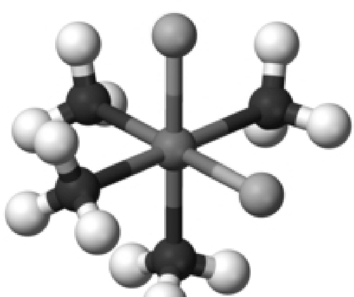

द्वितीयक संयोजकता

किसी धातु के चारों ओर पाए जाने वाले लीगैण्ड एक निश्चित आकाशीय (त्रिविम) व्यवस्था (spatial arrangement) या ज्यामिती में पाए जाते हैं। उनकी यह व्यवस्था धातु के उपसहसंयोजन संख्या पर निर्भर करती है।

उदाहरण के लिये, धातु के चारों तरफ यदि 6 लीगैण्ड उपस्थित हों तो वे प्राय: अष्टफलकीय (octahedral) संरचना में पाए जाते हैं जैसे $[Fe(CN)_6]^{-4}$ संकुल में। इसी प्रकार धातु के चारों तरफ यदि 4 लीगैण्ड उपस्थित हों तो वे प्राय: चतुष्फलकीय सरंचना (tetrahedral) जैसे $Ni(CO)_4$ में या वर्ग समतलीय (square planar) संरचना जैसे $[PtCl_4]^{-2}$ में पाये जाते हैं। अष्टफलकीय संरचना में धातु sp^3d^2 या d^2sp^3 संकरण (hybridisation) तथा चतुष्फलकीय एवं वर्गसमतलीय संरचना में क्रमश: sp^3 या dsp^2 संकरण प्रदर्शित करता है।

संक्रमण धातुएँ (transition metals) मुख्य रूप से 6 एवं 4 उपसहसंयोजन संख्या वाले धातु संकुल यौगिकों का निर्माण करते हैं परन्तु अन्य उपसहसंयोजन संख्या वाले धातु संकुल भी पाए जाते हैं परन्तु अपेक्षाकृत काफी कम संख्या में। आन्तरिक संक्रमण तत्व (inner transition elements) अधिक उपसहसंयोजन संख्या वाले संकुलों का भी निर्माण करते हैं।

तीन लीगैण्डों की एक निश्चित त्रिविम व्यवस्था के कारण धातु संकुल ज्यामितीय एवं प्रकाशिक समावयवता (Geometrical and optical Isomerism) भी प्रदर्शित करते हैं। अकार्बनिक रसायन में केवल धातु संकुल ही समावयवता प्रदर्शित करते हैं, इसके पूर्व समावयवता को केवल कार्बनिक यौगिकों से सम्बद्ध किया जाता था। ज्यामितीय समावयवता अष्टफलकीय एवं वर्ग समतलीय यौगिकों में पायी जाती है। एक समान समूहों के समान तरफ पाए जाने की व्यवस्था को सिस (cis) एवं विपरीत तरफ पाए जाने की व्यवस्था को ट्रांस (trans) समावयव कहते हैं। इसी प्रकार यदि तीन समान समूह आपस में सिस स्थानों पर उपस्थित हों तो उन्हें फेसियल (Facial या fac-) समावयव कहते हैं। परन्तु यदि तीनों समूह आपस में सिस स्थानों पर उपस्थित न हों तो उन्हें मेरिडिआनल (Meridional या mer-) समावयव कहते हैं। चूंकि चतुष्फलकीय यौगिको की सभी संयोजकताएं एक जैसी होती हैं इसलिए इन यौगिकों में ज्यामितीय समावयतता नहीं पाई जाती है।

धातु संकुलों द्वारा समतल ध्रुवित प्रकाश के प्रति भिन्न-भिन्न व्यवहार प्रदर्शित करने के कारण प्रकाशिक समावयवता पायी जाती है। जो यौगिक समतल ध्रुवित प्रकाश को दक्षिणावर्त (Clockwise) या दाहिनी दिशा में मोड़ते हैं उन्हें डेक्स्ट्रोरोटेटरी समावयव (dextrorotatory isomer) या d- समावयव कहते हैं तथा वामावर्त (anticlockwise) या बाईं दिशा में

समतल ध्रुवित प्रकाश को मोड़ने वाले यौगिकों को लीवोरोटेटरी समावयव (levorotatory isomer) या l- isomer कहते हैं। उदाहरण के लिए $[Co(ox)_3]^{+3}$ दो प्रकाशिक समावयवों, d- एवं l- में पाया जाता है।

वर्नर ने 1914 में 'हेक्साल' (hexol) नामक धातु संकुल को सर्वप्रथम उनके प्रकाशिक समावयवों में पृथक किया जिसने इस विचारधारा को ध्वस्त किया कि प्रकाशिक समावयवता के लिये आवश्यक 'काइरेलिटी' (chirality) केवल C यौगिकों से सम्बद्ध होती है।

हेक्साल

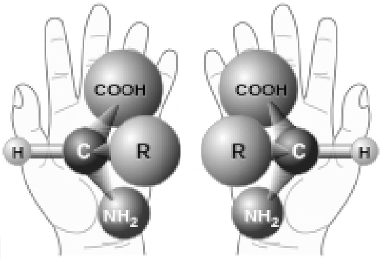

काइरेलिटी

HBCSE

ज्यामितीय एवं प्रकाशिक समावयवता का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि धातु संकुलों के अनेक गुण उनके समावयवी व्यवहार पर निर्भर करते हैं। उदाहरण के लिए $[PtCl_2(NH_3)_2]$, का सिस समावयव, जो सिस प्लेटिन के नाम से जाना जाता है, कैसंर के उपचार में कारगर है परन्तु इसके ट्रांस समावयव में यह गुण नही पाया जाता है। इसी प्रकार किसी अभिक्रिया के लिए एक प्रकाशिक समावयव कारगर हो सकता है परन्तु दूसरा समावयव नहीं। धातु संकुलों का यह पक्ष इनके अध्ययन को अत्यन्त रोचक बनाता है।

धातु संकुलों की संरचना एवं बन्धन की व्याख्या करने के लिए संकरण सिद्धान्त, क्रिस्टलफील्ड सिद्धान्त एवं आणविक कक्षक सिद्धांत आदि की सहायता ली जाती है।

धातु संकुलों के कार्य एवं उपयोगिता

धातु संकुलों के कार्यो एवं उपयोगिता की सूची अत्यन्त लम्बी है- बायोलाजी से नैनोटैक्नोलाजी तक। संभवत: इन्हीं कारणों से अनेक

वैज्ञानिकों ने अकार्बनिक रसायन के अध्ययन को वास्तव में धातु संकुलों के अध्ययन के समतुल्य माना है। ('Inorganic chemistry is the study of coordination chemistry')।

जैविक तन्त्र में धातु संकुल

जैविक तंत्र में पाए जाने वाले धातु संकुलों के अध्ययन ने एक नई एवं महत्वपूर्ण शाखा को जन्म दिया जिसे जैवअकार्बनिक रसायन कहते हैं। आजकल इस रसायन क्षेत्र में नित नये शोध हो रहे हैं जिनसे मॉडल तंत्र विकसित करने में मदद मिलती है। ऐसे नये अणुओं के निर्माण का प्रयास किया जा रहा है जो प्रकृति में पाये जाने वाले अणुओं की ही भांति कार्य कर सकें। इसे ही बायोमिमेटिक रसायन (biomimetic chemistry) कहते हैं। जैविक तंत्र में धातु संकुल अनेक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित करते हैं। संभवत: इन यौगिकों के बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जैविक तंत्र में पाये जाने वाले कुछ महत्वपूर्ण धातु संकुलों का विवरण नीचे दिया गया है।

क्लोरोफिल

पौधों में पाया जाने वाला हरे रंग का वर्णक क्लोरोफिल वास्तव में मैग्नीशियम (Mg) का एक संकुल हैं जिसमें यह (+2) ऑक्सीकरण अवस्था में पोरफायरिन रिंग के बीच में स्थित है। पॉरफायरिन एक वृहद चक्रीय अणु है जिसमें चार पाइरोल अणु पाए जाते हैं। अत: यह अणु चारदन्ती लीगैण्ड की भांति कार्य करता है तथा इसके चार N परमाणु धातु से जुड़ते हैं। धातु की पांचवीं व छठवीं संयोजकता अलग-अलग अणुओं में भिन्न-भिन्न समूहों से जुडी होती है। साथ ही पोरफायरिन रिंग से अनेक समूह भी जुड़े होते हैं जो इसके गुण एवं व्यवहार को प्रभावित करते हैं। क्लोरोफिल अणु में Mg^{+2} की चार संयोजकताएं पोरफायरिन रिंग के चार N से एवं पांचवीं एवं छठवी संयोजकता ऐसीटिल ग्रुप के O एवं हिस्टीडीन के N से जुड़ी होती है। क्लोरोफिल अणु ही सूर्य के प्रकाश को अवशोषित कर इस प्रकाश ऊर्जा को रासायनिक ऊर्जा में परिवर्तित करते हैं। इसे ही प्रकाशसंश्लेषण (photosynthesis) क्रिया के नाम से

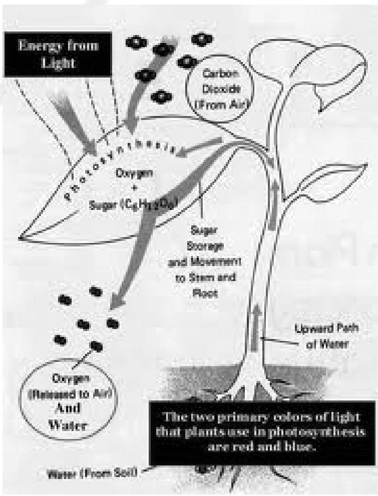

क्लोरोफिल

जाना जाता है जिसमें क्लोरोफिल प्रकाश की उपस्थिति में कार्बन डाइआक्साइड (CO_2) एवं जल (H_2O) अणुओं की क्रिया से भोजन (ग्लूकोज) का निर्माण करता है। अतः इसी वर्णक की मदद से हरे पेड़-पौधे अपने साथ-साथ सभी जीवधारियों को भोजन प्रदान करते हैं, साथ ही प्राणदायिनी आक्सीजन गैस भी मुक्त करते हैं।

hυ

$$6CO_2+6H_2O \text{ -------------> } C_6H_{12}O_6 + 6O_2$$

क्लोरोफिल

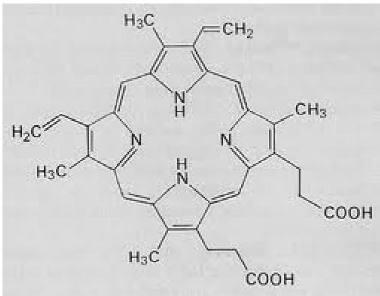

पोरफायरिन रिंग

हीमोग्लोबिन एवं मायोग्लोबिन

मानव सहित अनेक जीवधारियों में श्वसन के लिए आवश्यक हीमोग्लोबिन जो ऑक्सीजन के परिवहन के लिए आवश्यक है तथा मायोग्लोबिन जो ऑक्सीजन के संचयन के लिए जिम्मेवार है, वे भी आयरन (Fe) के ही पोरफायरिन रिंग के साथ बने संकुल हैं। इन अणुओं में Fe (+2) ऑक्सीकरण अवस्था में पाया जाता है तथा इसकी चार संयोजकताएं पोरफायरिन रिंग के चार N एवं पाचवीं संयोजकता हिस्टीडीन के N से जुड़ी होती हैं। Fe^{+2} की छठवीं संयोजकता ऑक्सीहीमोग्लोबिन में ऑक्सीजन अणु से जुड़ती है। हीमोग्लोबिन में हीम की चार इकाइयाँ पायी जाती हैं जो ग्लोबिन प्रोटीन से जुड़ी होती है। पोरफायरिन रिंग का Fe के साथ बने संकुल को हीम कहते हैं।

हीमोग्लोबिन रक्त में उपस्थित लाल रक्त कोशिकाओं में पाया जाता है तथा उसमें उपस्थित Fe फेफड़ों से ऑक्सीजन को ग्रहण करके उसे कोशिकाओं तक ले जाता है जहां पर इसका उपयोग ग्लूकोज के ऑक्सीकरण के लिए होता है। इस प्रक्रिया को श्वसन कहते हैं तथा इससे जीवधारियों को ऊर्जा प्राप्त होती है।

$$C_6H_{12}O_6 + 6O_2 \text{ --}\rightarrow 6CO_2 + 6H_2O + \text{ऊर्जा}$$

HBCSE

यहां पर इस बात का उल्लेख महत्वपूर्ण है कि इस प्रक्रिया में Fe का (+2) ऑक्सीकरण अवस्था से (+3) अवस्था में ऑक्सीकरण नहीं होता है तथा ऑक्सीजन के साथ उत्क्रमणीय बंधन (reversible binding) होता है जिससे ऑक्सीजन का परिवहन संभव हो पाता है।

हीमोग्लोबिन

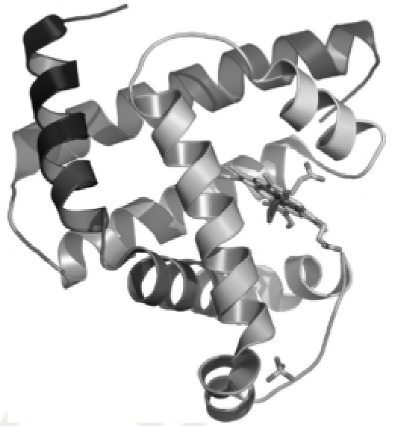

मायोग्लोबिन

मायोग्लोबिन की संरचना भी हीमोग्लोबिन के ही लगभग समान होती है लेकिन उसमें केवल एक ही हीम इकाई पायी जाती है जो ग्लोबिन प्रोटीन से जुड़ी होती है। ऑक्सीजन के प्रति अधिक बन्धुता के कारण यह ऊतकों में ऑक्सीजन के उत्क्रमणीय संचयन के लिए जिम्मेवार है।

साइटोक्रोम

साइटोक्रोम में भी Fe (+2) या (+3) ऑक्सीकरण अवस्था में पोरफायरिन रिंग के साथ संकुल बनाता है। इसकी चार संयोजकताएं पोरफायरिन रिंग के 4 N एवं पांचवीं एवं छठवीं संयोजकता हिस्टीडीन के N एवं मिथीयोनीन के S परमाणु से जुड़ी होती है। साइटोक्रोम इलेक्ट्रॉन ट्रांसफर प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह प्रकाशसंश्लेषण में क्लोरोप्लास्ट एवं श्वसन में माइटोकॉन्ड्रिया में पाया जाता है। दोनो ही प्रक्रियाएं अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। प्रकाशसंश्लेषण में ग्लूकोज का निर्माण, एवं श्वसन में ग्लूकोज का ऑक्सीकरण होता है।

साइटोक्रोम

हीमएरीथ्रिन

यह भी Fe^{+2} का ही एक संकुल है जिसमे पॉरफायरिन रिंग नहीं पायी जाती है। यह एक नॉन-हीम वर्णक है जो निम्न समुद्री अकशेरूकी प्राणियों में ऑक्सीजन के परिवहन के लिये जिम्मेवार है।

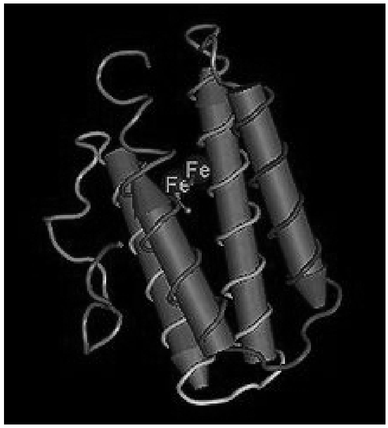

हीमएरीथ्रिन

फैरीडॉक्सिन एवं रूब्रिडॉक्सिन

यह भी नान-हीम आयरन-सल्फर प्रोटीन है जो इलेक्ट्रान ट्रांसफर प्रक्रिया में पाया जाता है। इसमें Fe चार S परमाणुओं के साथ चतुष्कलकीय संरचना में पाया जाता है।

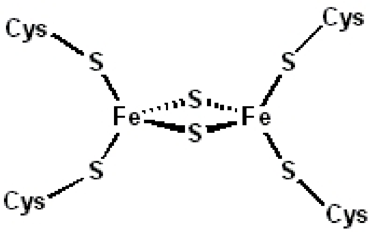

फैरीडॉक्सिन

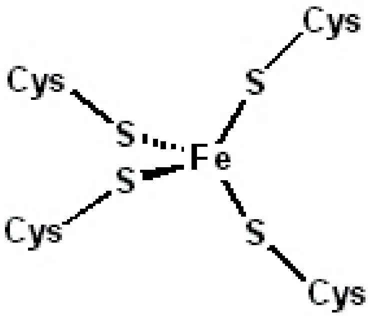

रूब्रिडॉक्सिन

हीमोसायनिन

मोलस्का एवं आर्थ्रोपोडा फाइलम के जीवधारियों जैसे ऑक्टोपस, क्रैब, लोब्सटर, केकड़े आदि में ऑक्सीजन के परिवहन के जिम्मेवार हीमोसायनिन Cu का एक संकुल है। इसके कारण इन जन्तुओं के रक्त का रंग नीला होता है। इसमें डिऑक्सी रूप में Cu(+1) एवं ऑक्सी रूप (+2) अवस्था में पाया जाता है। डिऑक्सी रूप में यह रंगहीन तथा ऑक्सी रूप में यह नीला होता है।

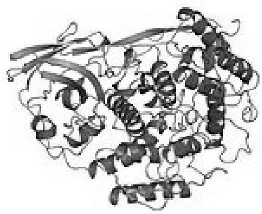

हीमोसायनिन

विटामिन B12

वर्ष 1948 में खोजा गया विटामिन B12 या साइनोकोबालामीन कोबाल्ट (Co) का (+3) ऑक्सीकरण अवस्था में कॉरिन रिंग के साथ बनाया गया संकुल है। यह एकमात्र विटामिन है जिसमें धातु पाया जाता है। कॉरिन रिंग पोरफायरिन रिंग से कुछ भिन्न संरचना रखती है परन्तु इसमें भी Co की चार संयोजकताएं चार पाइरोल समूहों के 4 N, पांचवी संयोजकता इमिडाजोल के N तथा छठवीं संयोजकता CN^- या अन्य समूहों से जुड़ी होती है। इस विटामिन की कमी से परनिशियस एनीमिया नामक बीमारी होती है।

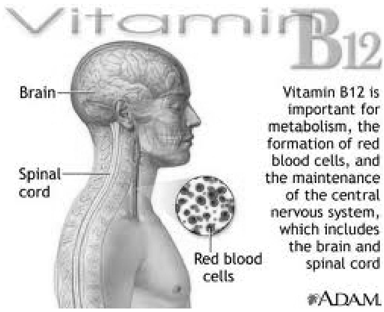

विटामिन B12

जैविक तन्त्र में पाए जाने वाले सभी धातु संकुलों की संरचना एवं कार्य विधि अत्यन्त जटिल होती है। परन्तु इन्हें समझने से कृत्रिम मॉडल तन्त्र विकसित करने में मदद मिलती है। साथ ही ये जीवन की उत्पत्ति के बारे मे भी कुछ संकेत कर जाते हैं।

एन्जाइम

एन्जाइम (enzymes) जैविक तंत्र में पाये जाने वाले उत्प्रेरक होते हैं। जीवधारियों के अन्दर चलने वाली अनेक जैव रासायनिक गतिविधियों में उत्प्रेरक का कार्य करने वाले मेटैलोएन्जाइम भी धातुओं के संकुल होते हैं। ये एन्जाइम प्रोटीन जिसे एपोएन्जाइम कहते हैं तथा प्रोस्थेटिक समूह से मिलकर बने होते हैं। प्रोस्थेटिक समूह एक साधारण धातु आयन या उसका संकुल हो सकता है। उदाहरण के लिए, हीमोग्लोबिन का प्रोस्थेटिक समूह हीम है। ये एन्जाइम न केवल अभिक्रिया की दर को बढ़ाते हैं परन्तु अनेक बार अभिक्रिया में बनने वाले उत्पादों को भी प्रभावित करते हैं। नीचे संक्षेप में कुछ महत्वपूर्ण एन्जाइमों का विवरण है।

एन्जाइम

कार्बोनिक एनहाइड्रेज

यह Zn का एक मेटैलोएन्जाइम है जिसमे Zn (+2) ऑक्सीकरण अवस्था में चतुष्फलकीय संरचना में तीन हिस्टीडीन अणुओं के 3 N एवं H_2O या OH के O के साथ जुडा होता है। यह एन्जाइम CO_2 की H_2O के साथ क्रिया से कार्बोनिक अम्ल के निर्माण में उत्प्रेरक का कार्य करता है।

$$H_2O + CO_2 = HCO_3^- + H^+$$

कार्बोनिक एनहाइड्रेज

कार्बोक्सीपेप्टाइडेज-ए

कार्बोनिक एनहाइड्रेज के समान ही यह एन्जाइम भी Zn का (+2) ऑक्सीकरण अवस्था में संकुल है। इसमें भी Zn^{+2} चतुष्फलकीय संरचना में दो हिस्टीडीन अणुओं के 2 N एवं ग्लूटामिक अम्ल के एक O परमाणु के साथ जुड़ा होता है। इसकी चौथी संयोजकता सबस्ट्रेट अणुओं के साथ जुड़ने के लिये उपलब्ध रहती है। यह एन्जाइम पेप्टाइड श्रृंखला के C छोर से क्रमिक रूप से अमीनों अम्लों को निकालने में मदद करता है। इसी क्रम में जैन्थीन ऑक्सीडेज नामक एन्जाइम जैन्थीन अणु को यूरिक अम्ल में ऑक्सीकृत करता है। यह Fe एवं Mo का संकुल है। एल्डिहाइड आक्सीडेज नामक एन्जाइम एसिटल्डिहाइड को एसीटिक अम्ल में ऑक्सीकृत करता है। यह भी Fe एवं Mo का संकुल है।

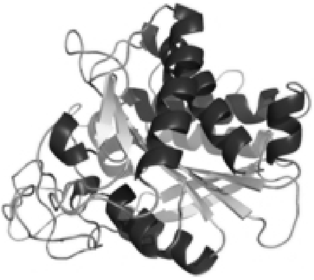

कार्बोक्सीपेप्टाइडेज ए

धातु संकुलों का उपयोग
जैविक तंत्र में धातु संकुलों के कार्य एवं महत्व के साथ ही साथ धातु संकुल अन्य क्षेत्रों जैसे चिकित्सा, विश्लेषणात्मक रसायन, धातुओं के निष्कर्षण एवं शोधन आदि में अत्यन्त उपयोगी हैं तथा ये उत्कृष्ट उत्प्रेरक के रूप में भी कार्य करते हैं। नीचे संक्षेप में धातु संकुलों की इन क्षेत्रों में महत्वपूर्ण उपयोगिता का विवरण है।

कीलेशन थिरैपी में उपयोग
जीवधारियों में अनेक आवश्यक धात्विक तत्व पाए जाते हैं जो भिन्न-भिन्न कार्यो के निष्पादन हेतु आवश्यक हैं। परन्तु यदि ये भी उचित मात्रा से अधिक हों तो अनेक बीमारियों को जन्म देते हैं। उदाहरण के लिये, शरीर के लिये Fe एवं Cu अत्यन्त आवश्यक धातु हैं जो अनेक मेटैलोएन्जाइम में पाए जाते हैं। परन्तु Fe की अधिकता से सिडरोसिस तथा Cu की अधिकता से विल्सन बीमारी उत्पन्न होती है। इसी प्रकार लेड (Pb) एवं मरकरी (Hg) आदि ज़हरीले तत्व भी बीमारियों को जन्म देते हैं। शरीर से इन तत्वों का निष्कासन विभिन्न कीलेटिंग लीगैण्ड जैसे ई.डी.टी.ए., डी. पैनिसिलएमीन, डेसफेरीआक्सिम-बी आदि के द्वारा धातु संकुल बनाकर किया जाता है। इसे ही कीलेशन थिरैपी कहते हैं।

चिकित्सा के क्षेत्र में उपयोग
कुछ धातु संकुलों का उपयोग चिकित्सा के क्षेत्र में भी हो रहा है। जैसे कैंसर के इलाज में Pt^{+2} का एक संकुल सिस $PtCl_2(NH_3)_2$, जिसे **सिस प्लेटिन** कहा जाता है, वह भी अत्यन्त कारगर पाया गया है। इसी प्रकार Fe एवं Ru के कुछ कार्बोनिल यौगिक भी रक्त धमनियों एवं हृदय से जुड़ी बीमारियों के इलाज में कारगर पाए गए हैं।

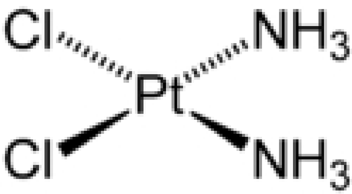

सिस प्लेटिन

उत्प्रेरकों के रूप में उपयोग
जैविक कार्यो एवं उपयोगिता के अतिरिक्त धातु संकुल अत्यन्त उपयोगी एवं सक्षम उत्प्रेरक हैं।

जीगलर-नाटा उत्प्रेरक
जर्मनी के कार्ल जीगलर एवं इटली के जी0 नाटा ने $TiCl_4$ एवं $Al(C_2H_5)_3$ के द्वारा ऐसे उत्प्रेरकों का निर्माण किया जिससे साधारण ताप एवं दाब पर पॉलीथीन एवं पॉलीप्रोपीलीन नामक प्लास्टिक बनाया जा सका जिसने

इनकी निर्माण लागत को अत्यन्त कम कर दिया। समाज को इससे मिलने वाला लाभ स्पष्ट है। जीगलर एवं नाटा को उनके द्वारा विकसित किए गये उत्प्रेरक, जिसे जीगलर-नाटा उत्प्रेरक कहा जाता है, के लिये 1963 का नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

जीगलर-नाटा उत्प्रेरक के अतिरिक्त भी अनेक कार्बधात्विक यौगिक अत्यन्त उपयोगी उत्प्रेरकों के रूप में कार्य करते हैं। अल्कीन की H_2 के साथ क्रिया करके अल्केन निर्माण में विलकिन्सन उत्प्रेरक (Wilkinson's catalyst,) $[Rh(Ph_3P)_3Cl]$, की मदद ली जाती है।

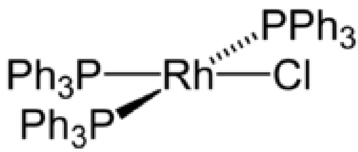

विलकिन्सन उत्प्रेरक

इसी प्रकार, अल्कीन की H_2 एवं CO से क्रिया कर एल्डीहाइड (RCHO) एवं महत्वपूर्ण अल्कोहलों के निर्माण में $Co_2(CO)_8$ प्रभावी उत्प्रेरक का कार्य करता है। इस अभिक्रिया को हाइड्रोफारमाइलेशन या आक्सो प्रक्रिया कहा जाता है। इसकी खोज रायलेन (Roelen) ने वर्ष 1938 में की थी।

$$2RCH{=}CH_2 + 2CO + H_2 \xrightarrow{CO_2(CO)_3Cl} RCH_2CH_2CHO + RCH(CHO)CH_3$$

अल्कीन से O_2 की क्रिया से एल्डिहाइड का निर्माण, जिसे वॉकर प्रक्रिया कहते हैं, में $PdCl_4^{-2}$ एवं Cu के संकुलों का उपयोग होता है। साथ ही अल्कोहल से एसीटिक अम्ल के निर्माण एवं कृत्रिम पेट्रोल के निर्माण आदि अनेक आर्थिक महत्व के रासायनिक अभिक्रियाओं में उपयोग किये जाने वाले सक्षम उत्प्रेरक भिन्न-भिन्न धातुओं के संकुल ही हैं। इन उत्प्रेरकों ने बनने वाले उत्पादों को न केवल सस्ता किया परन्तु प्रचुर मात्रा में इनके उत्पादन का रास्ता खोलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

HBCSE

धातुओं के निष्कर्षण एवं शोधन में उपयोग

धातुओं में निष्कर्षण में धातु संकुलों का उपयोग अनेक धातुओं के निष्कषर्ण एवं शोधन में किया जाता है। जैसे सिल्वर (Ag) एवं गोल्ड (Au)। इन धातुओं को महीन चूर्ण अवस्था में KCN के तनु विलयन में मिलाने पर ये CN^- के साथ क्रिया कर साइनों संकुल का निर्माण कर विलयन में घुल जाते हैं जिसमे जिंक (Zn) मिलाने पर ये धातुएं

अवक्षेपित हो जाती है।

$$Ag_2S + 4KCN \rightarrow 2K[Ag(CN)_2] + Na_2S$$
$$2K[Ag(CN)_2] + Zn \rightarrow K_2[Zn(CN)_4] + 2Ag\downarrow$$

कुछ धातुओं पर Ag या Au के विद्युत लेपन के लिए भी Ag या Au के संकुल $K[Ag(CN)_2]$;k $K[Au(CN)_2]$ का उपयोग किया जाता है।

विश्लेषणात्मक रसायन में उपयोग

धातु संकुलों का उपयोग अनेक तत्वों के पहचान एवं विश्लेषण में भी किया जाता है। उदाहरण के लिये, जल की कठोरता Ca^{+2} एवं Mg^{+2} के घुलनशील लवणों के कारण होती है। कठोर जल में जब ई.डी.टी.ए. मिलाया जाता है तो यह Ca^{+2} एवं Mg^{+2} के साथ एक स्थायी एवं घुलनशील संकुल बनाता है जिसके अनुमापन के द्वारा कठोर जल में Ca^{+2} एवं Mg^{+2} की मात्रा ज्ञात की जाती है। इसी प्रकार Ca^{+2} एवं Mg^{+2} की पृथक-पृथक मात्रा भी ज्ञात की जा सकती है।

$$M^{+2} + EDTA \rightarrow [M(EDTA)]^{-2}$$
($M = Ca^{+2}$ या Mg^{+2})

फोटोग्राफी में उपयोग

फोटोग्राफी फिल्म के ऊपर सिल्वर ब्रोमाइड की परत चढ़ी होती है। इसकी सोडियम थायोसल्फेट के साथ क्रिया कराने पर Ag का संकुल बनता है। अतः फोटोग्राफी में धातु संकुलों का महत्वपूर्ण योगदान है।

$$AgBr + Na_2S_2O_3 \rightarrow Na[Ag(S_2O_3)] + NaBr$$

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि धातु संकुल अत्यन्त महत्वपूर्ण यौगिक हैं तथा इनका हमारे जीवन के अनेकानेक क्षेत्रों में उपयोग है।

➢ एसोशिएट प्रोफेसर
रसायन विज्ञान विभाग
डी.ए.वी. कालेज
कानपुर-208001

रेडियोकार्बन आयुनिर्धारण तकनीक
सिद्धान्त एवं अनुप्रयोग

■ डॉ. चन्द्र मोहन नौटियाल

परिचय

जब से मानव ने सोचना प्रारम्भ किया है अपने परिवेश तथा अतीत के प्रति जिज्ञासा उसकी एक स्वाभाविक प्रकृति रही है। यह सभ्यता और संस्कृति के इतिहास को समझने में समय एक महत्वपूर्ण बिंदु है। कहीं भी किसी पुरातत्व सम्बंधी खुदाई में लकड़ी, कोयले, अन्न आदि के अवशेष मिलने पर एक उत्सुकता होती है कि यह पता लग पाए कि ये वस्तुएँ किस समय की हैं। यह संभव हुआ रेडियोकार्बन तकनीक या विधि से। आयु निर्धारण की विधि एक ऐसी खोज है जिसने पुरातत्व के विषय को नई दिशा और आयाम दे दिए। इससे पूर्व पुरातत्व की खोजों के काल का निर्णय अनुमानों पर आधारित था जो पूर्वाग्रह ग्रस्त भी हो सकता था। क्योंकि सभ्यता संस्कृति के प्रमाण पिछले कुछ हज़ार वर्षों के ही मिलते हैं। रेडियोकार्बन विधि अपनी लगभग 40,000 वर्ष पूर्व तक की आयु निर्धारण क्षमता के कारण पुरातत्व के लिए सबसे महत्वपूर्ण सहयोगियों में सिद्ध हुई है। यही नहीं भूतकाल में हुए जलवायु के परिवर्तनों के अध्ययनों में भी इस विधि ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

विलार्ड फ्रैंक लिब्बी ने 1940 के दशक के अंत में अपने सहकर्मियों के साथ मिलकर रेडियोकार्बन के विविध पक्षों पर शोध प्रकाशित किए। इनमें अंतरिक्ष किरणों की वातावरण के अवयवों से अभिक्रिया स्वरूप रेडियोकार्बन बनना, इसका वातावरण में वितरण तथा पुरातत्वीय महत्व के नमूनों के आयु निर्धारण के लिए इसका अनुप्रयोग सम्मिलित थे। वर्ष 1952 में रेडियोकार्बन विधि से आयु निर्धारण पर एक पुस्तक प्रकाशित करके लिब्बी ने इस अन्वेषण का व्यापक परिचय विश्व को दिया। यह खोज एक रसायनज्ञ की थी पर इसके शुद्धतापूर्वक उपयोग में भौतिकविदों, गणितज्ञों एवं वृक्ष वलय के अध्येताओं की प्रमुख भूमिका रही और इसका उपयोग पुरातत्ववेत्ताओं एवं पुराजलवायु के अध्येताओं ने किया। इस खोज के लिए लिब्बी को 1960

विलार्ड फ्रैंक लिब्बी

नोबेल पुरस्कार मिला। नोबेल कमेटी का इस खोज के बारे में निम्नलिखित वाक्य इस खोज की महत्ता का परिचायक है। "Seldom has a single discovery in chemistry had such an impact on the thinking in so many fields of human endeavour. Seldom has a single discovery generated such wide public interest".

रेडियोकार्बन तथा इसकी खोज

कार्बन इस ब्रह्माण्ड में चौथा सर्वाधिक मिलने वाला तत्व है। केवल हाइड्रोजन, हीलियम तथा नाइट्रोजन इससे अधिक मात्रा में मिलते हैं। कार्बन के तीन समस्थानिक होते हैं। समस्थानिक से आशय एक ही तत्व के उन परमाणुओं से है जो सब तरह से एक जैसे हैं सिवाय परमाणु भार के। परमाणु भार का यह अंतर उनके नाभिक में उपस्थित न्यूट्रॉन संख्या के भिन्न होने के कारण आता है और हम जानते हैं कि रासायनिक अभिक्रिया के लिए न्यूट्रॉन नहीं इलेक्ट्रॉन की संख्या महत्वपूर्ण होती है। एक ही तत्व के भिन्न भिन्न समस्थानिकों को तत्व के प्रतीक के बाद उसके परमाणु भार को ऊपर लिख कर दिखाया जाता है। उदाहरणार्थ कार्बन के तीन भिन्न परमाणु C^{12}, C^{13} तथा C^{14} है। जिनके परमाणु भार क्रमशः 12, 13 तथा 14 हैं। C^{12} तथा C^{13} तो स्थायी समस्थानिक हैं परन्तु C^{14} रेडियोसक्रिय है। इस समस्थानिक C^{14} को रेडियोकार्बन भी कहा जाता है क्योंकि यह रेडियोसक्रिय है। इसकी अर्धायु 5730 वर्ष है। इसका अर्थ है कि इतने समय के बीतने पर अपने आप नाभिकीय विघटन होने से रेडियोकार्बन की मात्रा से आधी हो जाती है।

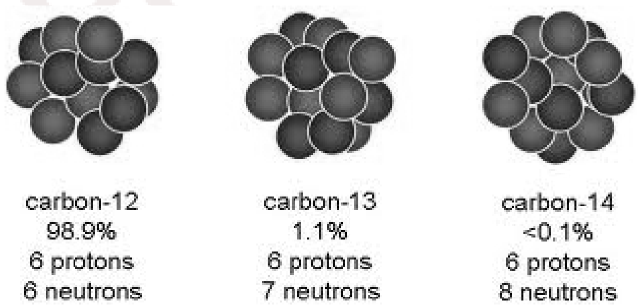

कार्बन और उसके समस्थानिक

वातावरण में उपस्थित कार्बन का एक बहुत छोटा अंश ही C^{14} होता है और इसका अंश है 1.3×10^{-12}, इसका अर्थ है कि पृथ्वी के वातावरण के हर एक हज़ार अरब कार्बन परमाणुओं में औसतन लगभग 1/4 परमाणु ही रेडियोसक्रिय होता है। कुछ हज़ार वर्षों के क्षय के

उपरान्त तो यह अंश इससे भी कई सौ गुना कम हो जाता है। परन्तु इसकी यह छोटी सी मात्रा भी इस महत्वपूर्ण विधि के लिए उपयोगी सिद्ध हुई है।

रेडियोकार्बन के अन्वेषण में कई महत्वपूर्ण मील के पत्थर थे। गुन्थर फाउरे की पुस्तक तथा रेडियोकार्बन की खोज की चार दशाब्दी के पूर्ण होने पर प्रकाशित पुस्तक में इस घटनाक्रम के बहुत रोचक विवरण हैं। वर्ष 1934 में ए. वी. ग्रोस को ज़िर्कान, लोहे, कैल्शियम, सोडियम आदि के एक खनिज यूडिएलायीट में अनापेक्षित रेडियो सक्रियता मिली। इसको उसमें उपस्थित केवल यूरेनियम तथा थोरियम की मात्रा के आधार पर नहीं समझा जा सकता था। उन्होंने अनुमान लगाया कि इस खनिज में कुछ अतिरिक्त रेडियोसक्रिय तत्व हैं जो अंतरिक्ष किरणों की इस खनिज में उपस्थित तत्वों के साथ नाभिकीय अभिक्रिया से बने हो सकते थे। इस समय तक बबल चैम्बर तो नहीं खोजा गया था (उसे डी.ए. ग्लेज़र ने 1952 में खोजा) पर क्लाउड चैम्बर उपलब्ध था जो 1912 में सी.टी. आर. विल्सन ने बनाया था। इस उपकरण के उपयोग से एफ़ एन डी क्यूरी ने यह तो देख लिया था कि यदि नाइट्रोजन पर तीव्र गति के न्यूट्रॉन की वर्षा की जाए तो कोई ऐसा नया कण बनता है जो क्लाउड चैम्बर में एक लंबे और पतले पथ (ट्रैक) के रूप में उपस्थिति दिखाता है। इस समय तक किसी को इस बात का अनुमान नहीं था कि नाभिक से अल्फा कण के अतिरिक्त भी कोई और कण निकल सकता है। आगे के वर्षों में अनेक नवीन संबंधित तथ्य उभरे। पता चला कि केवल तीव्र ही नहीं, धीमे न्यूट्रॉन भी N^{14} पर अभिक्रिया करके C^{14} बना सकते हैं। इस अभिक्रिया को इस रूप में व्यक्त करते हैं।

$$N^{14}\ (n,p)\ C^{14}$$

इन सब पर्यवेक्षणों तथा तथ्यों के सम्मिश्रण से वातावरण में रेडियोकार्बन के उत्पन्न होने के रहस्य पर से धीरे-धीरे पर्दा उठने लगा। जी. एल. लाकर ने 1933 में ही शोध पत्रिका 'फिज़िकल रिव्यू' में यह कह दिया था कि पृथ्वी के वातावरण में अंतरिक्ष किरणें न्यूट्रॉन बनाती हैं। सन् 1936 में डब्ल्यू. ई. बर्कहैम तथा एम. गोल्डहैबर ने N^{14} पर न्यूट्रॉन की अभिक्रिया से रेडियोकार्बन बनने की पुष्टि की। वर्तमान में रेडियोकार्बन की सर्वमान्य अर्धायु 5730 वर्ष है। इसकी अर्धायु का पहला अनुमान था 4000 वर्ष जो उस रेडियोकार्बन मापन पर मिला था जिसे 1940 में बर्कले में एम.डी. कामेन ने ग्रेफाइट पर (d,p) अभिक्रिया से

C^{14} बनाया था अर्थात ग्रेफाइट पर ड्यूटीरियम की अभिक्रिया से।

लिब्बी की रेडियोकार्बन के आयुनिर्धारण में अनुप्रयोग की कथा ऊपर लिखी पृष्ठभूमि में समझी जानी चाहिए। आयु निर्धारण के लिए इसके उपयोग को समझने के लिए वातावरण में रेडियोकार्बन बनना तथा उसका वनस्पतियों, जीवों तथा अवसादों में आना समझना आवश्यक है।

वातावरण, जीव-जन्तुओं तथा मिट्टी में रेडियोकार्बन कैसे आया?

जिस तरह प्रयोगशाला में नाइट्रोजन पर न्यूट्रॉन या फिर ग्रेफाइट पर ड्यूटीरियम की वर्षा से रेडियोकार्बन बन सकता है उसी तरह पृथ्वी के वातावरण के अवयवों पर भी अंतरिक्ष किरणों की अभिक्रिया से ऐसा होना संभव है। यदि इन संभावनाओं पर सोचें तो अंतरिक्ष किरणों में रेडियोकार्बन होना नकारा जा सकता है। क्योंकि रेडियोकार्बन के लिए, अर्धायु केवल 5730 वर्ष है। फिर अंतरिक्ष किरणों में सर्वाधिक (90% से अधिक) प्रोटॉन होते हैं। यदि कुछ रेडियोकार्बन होता भी तो अंतरिक्ष किरणें इतनी दूर से आती हैं कि वह सारा C^{14} आते-आते ही समाप्त हो जाता। जहाँ तक सूर्य से आने की बात है, उसकी आयु साढ़े चार अरब वर्ष है। सूर्य के केन्द्र में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया चल अवश्य रही है परंतु उसमें केवल हीलियम बन रही है, C^{14} नहीं। जो थोड़ा बहुत C^{14} आरम्भ में रहा होगा, कब का समाप्त हो चुका होगा। अर्थात C^{14} कहीं बाहर से आया नहीं बल्कि वह वातावरण में ही बना है। प्रयोगशाला के प्रयोगों से पता चल ही गया था कि न्यूट्रॉन की नाइट्रोजन पर अभिक्रिया से रेडियोकार्बन बन सकता है। लेकिन न्यूट्रॉन कहाँ से आए? न्यूट्रॉन औसतन लगभग 10 मिनट में विघटित हो जाता है, तो यह अंतरिक्ष से आया हुआ नहीं हो सकता।

यह भी पाया गया कि भू-तल से वातावरण में ऊपर जाने पर लगभग 15 किमी की ऊँचाई तक तो न्यूट्रॉन बढ़ते हैं और फिर कम होने लगते हैं। यदि वे अंतरिक्ष से आए होते तो लगातार बढ़ते रहते, बढ़ कर कम न होते। ये न्यूट्रॉन आए प्राथमिक अंतरिक्ष किरणों की वातावरण के अवयवों के साथ p, n की अभिक्रिया से। अधिक ऊँचाई पर वायु कम होती है इसलिए अभिक्रिया भी कम होती हैं। यही कारण है कि न्यूट्रॉन एक ऊँचाई के बाद कम होने लगते हैं। वायुमण्डल में उपस्थित गैसों के नाभिकों के साथ ज़्यादा ऊर्जा वाली अन्तरिक्ष किरणों की अभिक्रिया के फलस्वरूप बने 5-10 MeV ऊर्जा के ये न्यूट्रॉन वातावरण के अणुओं से

टकराकर धीमे हो जाते हैं और कम ऊर्जा के (KeV, कुछ किलो इलेक्ट्रॉन वोल्ट के) न्यूट्रॉन रह जाते हैं। थर्मल न्यूट्रॉन कहे जाने वाले ये न्यूट्रॉन वायुमण्डल के अणुओं के परमाणुओं के साथ नाभिकीय अभिक्रिया करके नए परमाणु बनाते हैं तथा C^{14} उनमें से एक है-

$$N^{14} + n = C^{14} + H^{1} \; \{\sigma = 1.7 \times 10^{-24} \; cm^{2}\} \quad (1)$$

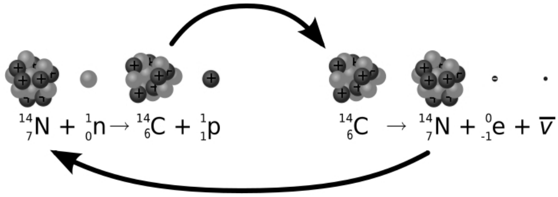

यहाँ σ अभिक्रिया होने की संभावना दर्शाता है (cross section), कुछ और अभिक्रियाएँ भी हैं परंतु ऊपर लिखी हुई अभिक्रिया सबसे महत्वपूर्ण है। कार्बन के साथ आक्सीजन की अभिक्रिया से CO_2 बनती है जो कुछ ही सालों में वातावरण में घुल मिल जाती है। प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया में जब वनस्पति कार्बन डायआक्साइड लेती है तो रेडियोकार्बन वनस्पति में पहुँच जाता है (क्योंकि यह CO_2 वातावरण से है उसमें रेडियोकार्बन होगा ही)। फिर भोजनचक्र से यह उनको खाने वाले जीवों में और उन जीवों को खाने वाले अन्य जीवों में पहुँच जाता है। वातावरण तथा वनस्पति में उपस्थित कार्बन के समस्थानिकों के अनुपात में कुछ अंतर होता है। यह परिवर्तन अनेक चरणों में जैसे वातावरण से पत्ती के रंध्रों (Stomata) में से गैस के पत्ती में प्रवेश करने में, अभिक्रिया स्थल तक पहुँचने में तथा रासायनिक अभिक्रिया के दौरान आता हैं। ये सब परमाणु भार पर निर्भर करने वाले परिवर्तन हैं। पर पहले दो के कारण हल्का समस्थानिक ज़्यादा हो जाता है, तीसरे में कम। इनमें से सबसे बड़ा परिवर्तन रासायनिक अभिक्रिया के दौरान होता है। इसका मतलब हुआ कि अंतिम अवस्था तक पहुँचने तक पौधे में वातावरण की तुलना में भारी समस्थानिक की कमी हो जाती है।

रेडियोकार्बन से आयु निर्धारण का आधार

रेडियोकार्बन की मात्रा C^{12}, C^{13} की तुलना में कम है। पर खास बात यह है कि पेड़ के कटने या मरने के बाद, C^{12} या C^{13} की मात्रा में तो बदलाव नहीं होता पर रेडियोकार्बन की मात्रा कम हो जाती है। क्योंकि

HBCSE

यह परिवर्तन एक निश्चित दर से होता है, परिवर्तन की मात्रा से बीते हुए समय की गणना हो जाती है। रेडियोकार्बन की अर्धायु (5730 वर्ष) स्थिर है तथा उस पर सामान्यतः ताप, दबाव आदि बाहरी कारणों का प्रभाव नहीं पड़ता।

यह बात ऐसे भी कह सकते हैं कि रेडियोकार्बन के N परमाणुओं के विघटन की दर

$$dN/dT \ \alpha \ -N$$

अतः

$$N/N \ \alpha \ -dT$$

$$Ln \ N = (-\lambda T) + Constt.$$

Or

$$T = -1/\lambda \ Ln \ N/N^0$$

तो आयु निर्धारण का आधार यह सूत्र है

$$T = 1/\lambda \ 1n \ (N_0/N) \qquad (2)$$

यहाँ λ विघटन स्थिरांक है जिसका अर्धायु से सीधा सम्बंध है: $\lambda T = 0.693$

इसका अर्थ है कि जिस नमूने की आयु पता करनी है उसमें उपस्थित रेडियोकार्बन की मात्रा का पता लगाना भी आवश्यक है। इसका पता लगता है नमूने में उपस्थित रेडियोकार्बन के विघटनों से। इसलिए बीटा विघटन तथा इसका मापन समझना आवश्यक है।

बीटा विघटन किसी समस्थानिक के नाभिक से अपने आप, रेडियोसक्रियता के गुण से इलेक्ट्रॉन निकलने की प्रक्रिया है जिससे नाभिक में उपस्थित धनावेष एक इकाई से बढ़ जाता है पर भार वही रहता है। नाभिक में इस परिवर्तन का अर्थ है कि तत्व भी बदल गया जैसे नाभिक में 6 प्रोटॉन वाला रेडियोकार्बन (C^{14}) बीटा विघटन से नाभिक में 7 प्रोटॉन वाले नाइट्रोजन (N^{14}) में बदल जाता है।

हम सब जानते हैं कि नाभिक में इलेक्ट्रॉन नहीं होता। फिर बीटा विघटन में इलेक्ट्रॉन कैसे निकलता है? होता यह है कि नाभिक में उपस्थित न्यूट्रॉन टूटकर प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन एवं एंटी-न्यूट्रीनो में बदल जाता है। आरम्भ में जब बीटा विघटन देखा गया था तो आश्चर्यजनक बात यह लगी थी कि निकलने वाले सब बीटा कण एक जैसी ऊर्जा के नहीं थे। पर ऊर्जा संरक्षण के सिद्धान्त से प्रश्न यह उठा कि जब कम ऊर्जा का

बीटा कण निकलता है तो शेष ऊर्जा कहाँ जाती है? इस संकट से उबरने के लिए एन्टी न्यूट्रीनो (आरम्भ में इसको न्यूट्रीनो कहा गया था) की परिकल्पना प्रस्तुत की गई तथा कहा गया जो ऊर्जा इलेक्ट्रॉन में नहीं दिखती, वह एक लगभग भारहीन, विद्युतावेशहीन, तथा रासायनिक दृष्टि से लगभग निष्क्रिय कण (एन्टी न्यूट्रीनो) के साथ चली जाती है। किसी नमूने में रेडियोकार्बन की मात्रा पता लगाने के लिए उस नमूने की रेडियोसक्रियता को मापा जाता है। सिद्धान्त है कि जितनी अधिक मात्रा में उसमें रेडियोकार्बन होगा, उतनी बड़ी संख्या में उसमें बीटा विघटन होंगे। वैसे इस विघटन की उल्टी प्रक्रिया भी सम्भव है। कुल मिलाकर निम्न 4 संभावनाएँ हैं जिनमें से रेडियोकार्बन का विघटन अभिक्रिया- 1 के अनुसार होता है:

1. n → p + e + anti- neutrino
2. n + neutrino → p + e
3. p + e → n + neutrino
4. p → n + neutrino + e+

यहाँ e इलेक्ट्रॉन का और e+ पॉज़ीट्रॉन का प्रतीक है।

रेडियोकार्बन को मापने की दो विधियाँ प्रचलित हैं। एक है बीटा विघटन को मापकर, और दूसरी सीधे रेडियोकार्बन के परमाणुओं को मापकर।

1. **प्रपोर्शनल काउंटर में मीथेन रखकर बीटा विघटन का मापन (अब उपयोग में नहीं**): पहली विधि में जिस नमूने की आयु पता लगानी है उसको मीथेन में बदल लेते हैं तथा उसमें होने वाले विघटनों की गणना करते हैं। पर अब यह विधि उपयोग में नहीं आती। आजकल दो विधियाँ सबसे अधिक प्रचलित हैं। इन दोनों के लिए प्रथम चरण में नमूने को उपयुक्त रूप में बदलना पड़ता है।

2. **लिक्विड सिंटिलेशन काउंटर में नमूने से तैयार की गई बेन्ज़ीन रख कर उसमें होने वाले विघटनों की गणना:**

लिक्विड सिंटिलेशन काउंटर के लिए छानकर आवश्यकता हो तो हाथ से स्वच्छ करके, नमूने को हाइड्रोक्लोरिक अम्ल तथा सोडियम हाइड्रॉआक्साइड जैसे उपयुक्त रसायनों के उपयोग से इस रूप में लाया जाता है कि अनावश्यक पदार्थ हट जाएँ और बचे नमूने को हीटर में रखा जा सके। और आक्सीजन की उपस्थिति में जलाकर (यदि नमूना कार्बोनेट के रूप में हो तो तनु हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के उपयोग से) पर्याप्त कार्बन डाईआक्साइड

बनाई जा सके। इस कार्बन डाईआक्साइड को गले हुए लीथियम उत्प्रेरक का उपयोग करके जल के साथ अभिक्रिया कराकर ऐसिटिलीन में बदल लेते हैं। इस ऐसिटिलीन को 'ट्रासमराईजेशन' की प्रक्रिया (उत्प्रेरक की उपस्थिति में) से बेंजीन में बदल लेते हैं। इस बेन्ज़ीन में उपयुक्त मात्रा में सिन्टिलेटर मिलाकर एक लिक्विड सिन्टिलेशन काउंटर में रख दिया जाता है। विघटनों की दर उपस्थित रेडियोकार्बन की मात्रा के समानुपाती होती है। सिन्टिलेटर के कारण हर विघटन के होने पर बीटा कण के बेन्ज़ीन में से होकर जाने पर एक चमक उत्पन्न होती है। जिसको गणक नमूने के चारों ओर रखे तीन फोटॉन डिटेक्टर पहचान लेते हैं। इस तरह यह गणक होने वाले विघटनों को गिनता है जिनसे उपस्थित रेडियोकार्बन की मात्रा का आकलन किया जाता है। सिद्धान्त रूप में यह मात्रा सूत्र- (2) में रखने पर आयु का पता चल जाता है। परंतु इस पद्धति में नमूने में एक ग्राम के आसपास कार्बन होना चाहिए जो सदा संभव नहीं हो पाता।

3. ऐक्सीलेरेटर मास स्पेक्ट्रोमीटर (ए.एम.एस) में नमूने से ग्रेफाइट बना कर उसमें रेडियोकार्बन के परमाणुओं का मापन:

यह विचार कि रेडियोकार्बन युक्त नमूने को गणक में रखकर रेडियोकार्बन के विघटन की प्रतीक्षा करते रहने और गणन की तुलना में सीधे रेडियोकार्बन के परमाणु को मापना अधिक अच्छा होगा, नया नहीं है। समस्या यह थी कि मास स्पेक्ट्रोमेट्री में अर्थात समस्थानिकों की मात्रा के मापन में जब वाष्पित नमूने को इलेक्ट्रॉन की वर्षा कर के आयनीकृत किया जाता है तो एक-एक इलेक्ट्रॉन खोने के कारण नाइट्रोजन और कार्बन दोनों के एकावेशी अर्थात C^{14+} के साथ-साथ N^{14+} के आयन भी बनते हैं। इन दोनों में परमाणु भार/विद्युतावेश (m/e) के आधार पर भेद करना संभव नहीं हो पाता। नाइट्रोजन तो उपकरण में उपस्थित वायु में भी होती है। इसलिए स्वाभाविक है कि N^{14+} की मात्रा कहीं अधिक होती है और C^{14+} सूक्ष्म मात्रा का तो कहीं पता भी नहीं चलता। इस समस्या का बड़ा रचनात्मक हल निकाला गया और वह था कि धनात्मक आयन के स्थान पर ऋणात्मक आयन बनाए जाएँ। सीज़ियम के धनावेशित आयनों की नमूने पर बौछार करने पर बने नाइट्रोजन के ऋणात्मक आयन स्थायी नहीं होते। इसके लिए कुछ अवांछित हाइड्रोआक्साइड आयनों को अलग भी कर देते हैं। अब एक उपयुक्त चुम्बकीय क्षेत्र में से सब आयनों को गुज़ारने पर, वे सब वृत्ताकार पथ अपनाते हैं जिनका व्यास उनके m/e पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए चुम्बकीय क्षेत्र के कारण एक बराबर विद्युतावेश का हल्का आयन अपने पथ से अधिक विचलित होगा,

उसके पथ का व्यास कम होगा जबकि उतने ही आवेश के भारी आयन का विचलन कम होगा और उसके पथ का व्यास अधिक होगा, इस तरह अलग अलग m/e के आयन पृथक हो जाते हैं। इच्छानुसार हम चुम्बकीय क्षेत्र का मान छाँटकर (अर्थात m/e छाँटकर) वांछित आयन को एक बिंदु पर एकत्रित कर सकते हैं। इस पद्धति का सबसे बड़ा लाभ है कि नमूने में एक मिलीग्राम कार्बन भी हो तो भी आयु निकाली जा सकती है। इसमें समय भी कम लगता है। पर साथ में कुछ और भी बातें हैं जैसे उपकरण बहुत महंगा है तथा छोटी-सी अशुद्धि से परिणाम प्रभावित हो जाता है। इसलिए यदि एक ही नमूने के विश्लेषण से परिणाम निकालना चाहें तो विषमांग नमूनों में गलती संभव है। परंतु इस विधि ने पुरातत्वविज्ञान में एक युगान्तरकारी बदलाव ला दिया है।

जटिलताएँ तथा त्रुटियों का परिशोधन

इन सभी विधियों में नमूने में बची रेडियोकार्बन की मात्रा को मापा जाता है। सिद्धान्त रूप में यह मात्रा सूत्र- 1 में रखकर आयु का पता चल जाता है। सिद्धान्त रूप में इसलिए कि आयु की गणना बहुत सरल होती अगर सूत्र में रखी जाने वाली हर चीज़ बिल्कुल सही-सही पता हों, पर इसमें जटिलताएँ हैं। इनमें से सबसे अधिक समस्या आरम्भिक रेडियोकार्बन की मात्रा 'N' में है। हम आज वातावरण में उपस्थित रेडियोकार्बन की मात्रा का अनुमान तो फिर भी शुद्धता से लगा सकते हैं क्योंकि मापन संभव है परंतु बीत चुके समय में आवश्यक नहीं कि वह आज के बराबर रही हो।

जैवमण्डल (Biosphere) में रेडियोकार्बन का उत्पादन एवं विघटन संतुलन में हैं। कार्बन के तीनों समस्थानिकों C^{12}, C^{13}, C^{14} का अनुपात भी स्थिर है। परंतु क्या यह सदैव ऐसा ही रहा है, यह बिना प्रमाण के मानना उचित नहीं होगा। हम यह मान कर चल रहे हैं कि रेडियोकार्बन का वातावरण में उत्पादन एक ही दर से होता रहा है और वातावरण में सदा इस ही मात्रा में रेडियोकार्बन उपस्थित रहा है। परन्तु सच यह है कि;

(i) अंतरिक्ष किरणों के आने की दर परिवर्तनशील है।

(ii) प्राथमिक किरणों के आने में तो परिवर्तन होता रहा ही है। पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र भी समय के साथ बदलते रहने के कारण पृथ्वी के किसी भाग पर पहुँचने वाले अंतरिक्ष किरणों/कणों की संख्या परिवर्तित होती रहती है। चुम्बकीय क्षेत्र इसलिए अंतरिक्ष किरणों को प्रभावित कर पाता है क्योंकि अंतरिक्ष किरण में आ रहे अभिक्रिया करने वाले बहुत से कण

आवेशयुक्त हैं जैसे कि प्रोटॉन। हम जानते हैं कि प्रोटॉन ही वातावरण में वे द्वितीयक न्यूट्रॉन बनाते हैं जो नाइट्रोजन के साथ रेडियोकार्बन बनाते हैं।

(iii) ग्यारह वर्षीय सौरचक्र से हम सब परिचित हैं। इसके अतिरिक्त भी सूर्य के चुम्बकीय गुणों के तथा अन्य परिवर्तन स्वतंत्र प्रमाणों से स्थापित हैं। सूर्य के चुम्बकीय क्षेत्र से भी पृथ्वी तक पहुँचने वाली अंतरिक्ष किरणें प्रभावित होती हैं।

इन तीनों कारकों को अलग-अलग जानना बहुत कठिन है। इसकी भी एक चतुर विधि निकाली गई। हम इन कारकों को आयुनिर्धारण हेतु अलग-अलग जानने के इच्छुक भी नहीं हैं। हम यह जानना चाहते हैं कि अलग अलग वर्षों में वातावरण में रेडियोकार्बन की कितनी सांद्रता रही है। यह देखा गया कि कुछ वृक्षों में जो वर्ष में एक बार पत्ते गिराते हैं, उनमें ऋतु के अनुसार वलय की वृद्धि दर बदलती है। शीतकाल में यह दर कम होती है और वसंत आने पर बढ़ जाती है। इसके परिणामस्वरूप ऐसा वृक्ष हर वर्ष एक वलय बनाता है। स्वाभाविक है कि इन वलयों में उन वर्षों के वातावरण में उपस्थित रेडियोकार्बन की सांद्रता परिलक्षित होगी। ऐसे पेड़ मौजूद हैं जो कई हज़ार वर्ष पुराने हैं। ऐसे मूँगे (कोरल) भी पहचाने गए हैं जिनमें वर्ष-दर-वर्ष बनी परतें पहचानी जा सकती हैं। इन वलयों तथा परतों में उपस्थित रेडियोकार्बन की मात्रा से पिछले हज़ारों वर्षों में रहे वातावरण में रेडियोकार्बन के स्तर का पता लगाकर अलग अलग आयु के नमूनों के लिए लागू रेडियोकार्बन स्तर का ज्ञान हो जाता है। इन आँकड़ों के आधार पर सूत्र- 2 से निकाली गई आयु को संशोधित कर लिया जाता है।

समुद्र में बनने वाले नमूने जैसे फोरामिनिफेरा एवं मूंगे आदि उन पदार्थों से बनते हैं जो कई सौ वर्ष पूर्व धरती की वनस्पति के अंश थे। हमारी सारी गणनाओं की आधारभूत मान्यता है कि नमूनों मे कार्बन वातावरण से आया है तथा वैसा ही होना चाहिए। परंतु वास्तव में समुद्र से लिए गए नमूने जैसे शंख, अपेक्षा से कम C^{14} अर्थात अधिक आयु दिखाते हैं। समुद्री नमूनों में रेडियोकार्बन का कम होना अनेक कारणों से है जैसे वातावरण से गैस के घुलने में और बाईकार्बोनेट के समाहित होने में कुछ कम समय लगता है। फिर गहराई से आया पानी और सतह का पानी घुल मिल जाते हैं जिससे भी रेडियोकार्बन की सांद्रता कम हो जाती है क्योंकि गहरा पानी पुराना होता है। अतः समुद्र के नमूने अपने बनने की आयु से कुछ सौ वर्ष अधिक आयु दिखलाते हैं। इसके अलावा भी

अतिरिक्त सावधानियाँ रखनी पड़ती हैं जैसे कि उपकरण में पुराने नमूने की स्मृति शेष न हो; गणक में अंतरिक्ष किरणों आदि बाहरी कारकों से कोई प्रभाव ना पड़े। कई बार नमूने के संग्रह या लेबलिंग में अनजाने में हुई त्रुटियों का तो पता ही नहीं चलता। जर्मनी के क्लोन विश्वविद्यालय तथा अमेरिका के वाशिंगटन विश्वविद्यालय ने संशोधन (कैलिब्रेशन) से इस प्रणाली को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

कम आयु के नमूनों के आयु निर्धारण में एक अतिरिक्त समस्या है। कोयला, लकड़ी, तेल उस वनस्पति से बने हैं जो करोड़ो वर्ष पुरानी है। स्पष्ट है कि इनमें रेडियोकार्बन नहीं बचा होगा। इन ईंधनों के जलने से रेडियोकार्बन-मुक्त कार्बन, विशेष रूप से पिछली शताब्दी में, वातावरण में निस्सरित होता रहा है जिसके कारण से वातावरण में रेडियोकार्बन की सांद्रता कम होती रही है। वर्ष 1890 से, औद्योगिक गतिविधियों के कारण जो लकड़ी और कोयला जलाया गया, उससे 1950 तक वातावरण में रेडियोकार्बन की सांद्रता लगभग 2 प्रतिशत कम हो गई। यही कारण है कि आज की नहीं बल्कि 1890 की लकड़ी को उचित संशोधन के बाद (1950 से अब तक के विघटन को ध्यान में रखकर) मानक की तरह मानते हैं। इससे कम आयु के नमूनों में अपेक्षित से कम रेडियोकार्बन मिलेगा और आयु वास्तविक आयु से अधिक लगेगी। नाभिकीय परीक्षण तथा विस्फोटों के कारण पिछले 50 वर्षों में वातावरण में निरंतर रेडियोसक्रिय कार्बन की सांद्रता बढ़ती रही है। इससे नमूनों की आयु कम लगेगी। इसलिए पिछले लगभग 100 वर्षों के नमूनों के आयु के आकलन त्रुटिपूर्ण होते हैं। और यही कारण है कि 100 वर्ष की आयु के आसपास की आयु को विश्वसनीय नहीं मानते। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हमारी गणनाओं का आधार है C^{12}, C^{13} की तुलना में C^{14} की मात्रा। पर प्रकृति में तीनों समस्थानिकों का अनुपात बाहरी कारणों से भी प्रभावित होता है। यदि ऐसे किसी प्रभाव के संकेत हों तो उपयुक्त संशोधन करना आवश्यक होगा।

रेडियोकार्बन विधि के अनुप्रयोग

रेडियोकार्बन की अर्धायु 5730 वर्ष है। इतने वर्षों में उपस्थित रेडियोकार्बन की मात्रा घट कर आधी हो जाती है। लगभग 40,000 वर्षों के बाद इतना रेडियोकार्बन नहीं बचता कि मापा जा सके। अतः इससे पुराने नमूनों की आयु इस विधि से पता नहीं लगाई जा सकती। बहुत पुराने नमूनों के लिए रेडियोकार्बन वर्षों का कैलेण्डर वर्षों में कैलिब्रेशन भी संभव नहीं होता। रेडियोकार्बन आयु उस समय से बीता काल बताती है जिससे

वनस्पति में रेडियोकार्बन बनना बंद हो गया। शैलीकृत चट्टानों की आयु भी उसमें उपस्थित जैविक कार्बन के जीवित रहने के काल को इंगित करती है ना कि चट्टान बनने का। लेकिन प्रायः यह अंतराल कम होता है। यदि नमूने में पुराने कार्बन जिसमें रेडियोकार्बन की मात्रा कम हो गई होगी, या कैल्शियम कार्बोनेट जैसे अजैविक मूल के कार्बन का मिश्रण हो जाए तो आयु अधिक निकलेगी और यदि बाद के कार्बन का मिश्रण हो जाए तो आयु कम निकलेगी।

1.भूवैज्ञानिक नमूने

1. फोरामिनिफेरा, मूंगा (कोरल), की तरह के कार्बोनेट एवं कार्बनिक पदार्थ-युक्त हिम तथा अवसादी नमूने (Sediment)

2.जैविक पदार्थ

लकड़ी कोयला, बीज, पत्ती, परागाणु, मछली के अंश

3.पुरातत्व से सम्बंधित

बर्तन, लौह उपकरण (जिनमें कार्बन हो), अन्न के दाने, कपड़ा, चमड़ा, कागज़, चित्र आदि

रेडियोकार्बन विधि के अनेक अनुप्रयोग हैं

(1)- प्राचीन सभ्यताओं के नमूनों के आयु निर्धारण से सभ्यताओं का विकास:

वाडिया हिमालयी विज्ञान संस्थान, देहरादून के पूर्व निदेशक डॉ. वी. सी. ठाकुर के नेतृत्व में सहारनपुर में खजनावर गाँव में मिले पुरातात्विक मलबे में भूकंप-जनित विनाश के प्रमाण, गिरी दीवारों, दबे बर्तनों में स्पष्ट हैं। ईंटों की पंक्तियाँ दो स्तरों में देखी जा सकती हैं जो अलग अलग समय की हैं। चार और संस्थाओं के वैज्ञानिकों के साथ मिलकर (जिनमें यह लेखक भी शामिल था) किए अध्ययन से निष्कर्ष निकला कि भूकम्प के कारण पहले वाली संस्थापना नष्ट हो गई थी और उसके बाद 600 वर्ष तक कोई नहीं बसा। यह क्षेत्र भूकम्प आने के लिए जाना जाता है जिसके स्वतंत्र प्रमाण हैं। इस तरह यहाँ पर सभ्यता दो अवधियों में बसी;- प्रथम: 650 ई. पू. से 200 ई. पू. , तथा द्वितीय : 850 वर्ष- 350 वर्ष में।

(2)- वनस्पति का विकास एवं वनस्पति तथा समय को जोड़ कर पुराजलवायु

जब किसी तालाब के आस पास की मिट्टी, सूखी झील की तलहटी से, समुद्र की तलहटी से खोद कर निकाली गई 'कोर' अथवा किसी अवसादी

चट्टान के नमूने का अध्ययन करते हैं तो उनमें सूक्ष्म पादपाश्म एवं जीवाश्म मिल सकते हैं। यदि इनमें उपस्थित परागकणों को पहचाना जाए तो यह पता लग सकता है कि वे किस वनस्पति के हैं। समकालीन मिट्टी की आयु का पता लगाकर यह मालूम हो जाता है कि वनस्पति में कैसे-कैसे परिवर्तन समय के साथ होते रहे। चूँकि वनस्पति तत्कालीन जलवायु का प्रतिनिधित्व भी करती है, इस तरह से जलवायु परिवर्तन का इतिहास पता चल जाता है। भारत में बीरबल साहनी पुरावनस्पतिविज्ञान संस्थान, लखनऊ, आगरकर शोध संस्थान पुणे; राष्ट्रीय समुद्रविज्ञान संस्थान, गोवा जैसी अनेक संस्थाएँ इस तरह के शोध में संलग्न हैं। इस विधि का उपयोग करके नागालैण्ड, मणिपुर, उत्तराखण्ड, केरल आदि प्रदेशों से लेकर बंगाल की खाड़ी और अरब सागर आदि के बहुत से अवसादी नमूनों का सफलतापूर्वक आयुनिर्धारण किया गया है जिससे पुराजलवायु के विषय में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त हुई है। बीरबल साहनी पुरावनस्पतिविज्ञान संस्थान की प्रयोगशाला में पिछले कुछ वर्षों में विश्लेषित नमूनों के बारे में एक संक्षिप्त रिपोर्ट संदर्भ 4 में है।

(3)- पुरातत्व संबंधी मिथ्या दावों का परीक्षण:

तुर्की में ट्यूरिन में 4.4 x 1.1 मी (14 x 3.7 फीट) के कपड़े पर एक सूली पर चढ़े आहत मानव की छाप के मिलने के कारण माना जा रहा था कि यह जीसस का अन्तिम समय का ओढ़ा हुआ कपड़ा था। वर्ष 1898 में एक छाया चित्रकार ने कपड़े के फोटो का निगेटिव देखा तो उसमें लगा कि एक मनुष्य की छाप स्पष्ट है। यानि यह निगेटिव का निगेटिव था। व्यक्ति के हाथ तथा सिर में छेद थे जैसे कि उसे सूली पर चढ़ाया गया हो। क्या ये नज़ेरेथ के जीसस के शव को उढ़ाया गया कपड़ा था? लिब्बी इस का आयु निर्धारण करना चाहते थे पर उस समय जांच के लिए अधिक नमूने की आवश्यकता होती।

सन् 1980 के दशक के अंत में एक्सीलेरेटर मास स्पेक्ट्रोमेट्री रेडियोकार्बन आयु निर्धारण से पता चला कि यह मध्य कालीन (1260-13 वीं शताब्दी का) कपड़ा था न कि 2000 वर्ष पुराना। स्पष्ट है कि यह ईसा मसीह का ओढ़ा हुआ वस्त्र नहीं हो सकता था। रेडियोकार्बन आयुनिर्धारण तकनीक के जरिए चट्टानों में मिले वानस्पतिक रंगों से बने चित्रों, हड़प्पा काल के उपयोग में आई वनस्पति तथा उनसे बनी वस्तुओं के अवशेषों, आदि का सही परिप्रेक्ष्य सामने आ सका।

(4)- पुराजलवायु कोरल कैल्शियम कार्बोनेट होता है। गर्मी और जाड़े में बनने वाले कवचों का घनत्व भिन्न होता है। इसका कारण हैं तापमान तथा सूर्य के प्रकाश की उपलब्धता में अंतर। पेड़ों की तरह ये भी ऋतुओं के अनुरूप बढ़ते हैं। काली धारी वार्षिक धारी हैं जबकि नीली और लाल धारी उससे भी छोटे अंश हैं। कोरल (मूंगा) की आयु तथा उनमें मिले समस्थानिकों के अनुपात से तापमान का अनुमान पुरातापमान पता लगाने का साधन बन जाता है।

वृक्ष वलय

1. भारत में अलग अलग अनुप्रयोगों के लिए अहमदाबाद की भौतिक अनुसंधान प्रयोगशाला, लखनऊ का बीरबल साहनी पुरावनस्पतिविज्ञान संस्थान, हैदराबाद का राष्ट्रीय भूभौतिक अनुसंधान संस्थान इस समय इस विधि से आयु निर्धारण में संलग्न हैं जिनमें से सर्वाधिक नमूनों का बीरबल साहनी पुरावनस्पतिविज्ञान संस्थान में आयुनिर्धारण होता है। यह एक राष्ट्रीय सुविधा केन्द्र की तरह है। भुवनेश्वर स्थित इन्स्टीट्यूट आफ फिज़िक्स में ए.एम. एस. का आरंभ भी किया गया था।

निस्कर्ष

रेडियोकार्बन बनता अंतरिक्ष किरणों से है जो भौतिकविदों का क्षेत्र है पर इसके विकास तथा उपयोग से न जाने कितने क्षेत्र जुड़े हुए हैं - भूविज्ञानी, रसायनविद, पुरावनस्पतिविज्ञानी, पुरातत्ववेत्ता, पुराजलवायुविद् और बहुत से। ए.एम.एस. के उपयोग से इसकी संवेदनशीलता और परिणामस्वरूप उपादेयता और अधिक बढ़ गई है। वनस्पति, सभ्यताओं एवं पुराजलवायु का इतिहास समझने में रेडियोकार्बन आयु निर्धारण तकनीक की महत्वपूर्ण भूमिका है।

संदर्भ

1. विलार्ड एफ. लिब्बी (1952), रेडियोकार्बन डेटिंग, यूनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस (124 पृष्ठ)
2. गुण्थर फ़ाउरे (1986), प्रिंसिपल्स आफ आइसोटोप जियोलॉजी, जान

वाइली एंड सन्स (589 पृष्ठ)
3. आर. ई. टेलर, ए. लांग, आर. एस. क्रा (1992), रेडियोकार्बन आफ्टर फोर डेकेड्स: एन इंटरडिसिप्लिनेरी पर्सपेक्टिव, स्प्रिंगर -फ़र्लाग (596 पृष्ठ)
4. सी. एम. नौटियाल, बी. शेखर (2008), रेडियोकार्बन डेटिंग लैबोरेटरी- बीरबल साहनी पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान, लखनऊ; ड्यूरिंग 2004 – 2007 'ग्लिम्प्सेज़ आफ जियोसाइंस रिसर्च इन इंडिया', इन्डियन नेशनल साइंस एकेडमी, नई दिल्ली, पृ.307-309

➢ वैज्ञानिक प्रभारी
रेडियोकार्बन प्रयोगशाला
बीरबल साहनी पुरावनस्पतिविज्ञान संस्थान
लखनऊ-226007
ई-मेल :cmnautiyal@yahoo.co.uk

HBCSE

चार्ल्स डार्विन और उनका विकासवाद

▪ डॉ. प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक का वर्ष 1809 विशेष महत्व रखता है क्योंकि इसी वर्ष शोपां, टेनिसन एडगर एलन पो, एलिज़ाबेथ ब्राउनिंग, अब्राहम लिंकन और चार्ल्स डार्विन जैसी विभूतियों का जन्म हुआ था। यह संयोग ही था कि लिंकन और डार्विन का जन्म एक ही दिन हुआ था। लिंकन ने जहाँ मानव काया को गुलामी की जंजीरों से मुक्ति दिलायी वहीं डार्विन ने मानव मस्तिष्क को वैचारिक सोच तथा चिंतन की जकड़न से मुक्त किया।

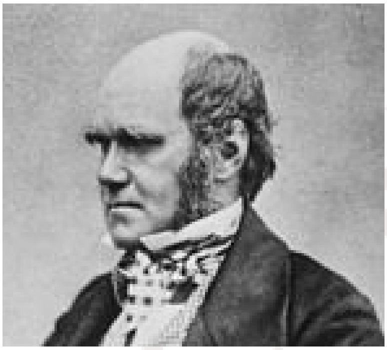

चार्ल्स रॉबर्ट डार्विन

चार्ल्स रॉबर्ट डार्विन का जन्म 12 फरवरी 1809 को श्रूजबरी, इंग्लैण्ड में हुआ था। उनके पितामह एरैसमस डार्विन प्रकृतिवज्ञानी, चिकित्सक और कवि थे। वे 'जूनोमिआ ऑर द लॉज ऑफ आर्गेनिक लाइफ' पुस्तक के रचयिता थे। पिता राबर्ट वारिंग चिकित्सक थे। चार्ल्स डार्विन की माँ का नाम सूज़न वेजवुड था। चार्ल्स डार्विन के परनाना जोलिया वेजवुड विख्यात 'वेजवुड पॉटरीज' के संस्थापक थे। चार्ल्स डार्विन की उम्र जब मात्र 8 वर्ष की ही थी, उनकी माँ का निधन हो गया। किन्तु उन्हें अपने बड़े भाई और चार बहनों का भरपूर प्यार मिला। चार्ल्स डार्विन को बचपन में किसी भी प्रकार का अभाव नहीं था। उन्हें डार्विन और वेजवुड दोनों परिवारों की स्वस्थ परम्परा विरासत में मिली। इस दृष्टि से वे अत्यंत भाग्यशाली थे। उन्होंने अपने बचपन को 'गोल्डेन चाइल्डहुड' कहा है।

बालक चार्ल्स डार्विन में प्रारंभ से ही प्रत्येक वस्तु के सूक्ष्मनिरीक्षण की आदत थी और वे कठिन परिस्थितियों में भी संतुलन बनाये रखते थे।

बचपन से ही उनके पास सीपियों, पत्थरों, सिक्कों, चिड़ियों, फूलों और विभिन्न प्रकार के कीट-पतंगों का अद्‌भुत संग्रह था। प्रकृति प्रेमी होने के कारण चार्ल्स डार्विन घुमक्कड़ स्वभाव के थे। तंग आकर पिता ने उन्हें एक पारंपरिक शिक्षा संस्थान में डाल दिया किन्तु लैटिन और ग्रीक भाषाओं के प्रति वे आकर्षित न हो सके। परिणामस्वरूप शिक्षकों और सहपाठियों के उपहास का केन्द्र बनकर भी उन्होंने चुपके-चुपके घर के कोने में अपनी एक निजी प्रयोगशाला बना डाली जहाँ वे रसायन और भौतिकी के प्रयोग करते रहते थे। चार्ल्स डार्विन के स्कूल के हेडमास्टर डॉ. सैमुएल बटलर ने चार्ल्स डार्विन को रासायनिक प्रयोगों में समय बर्बाद करने के लिए डाँट भी पिलाई थी।

सोलह वर्ष की उम्र में चार्ल्स डार्विन को डॉक्टरी की पढ़ाई के लिए एडिनबरा यूनिवर्सिटी में प्रवेश दिलाया गया। यहाँ जब वे यह देखते थे कि रोगियों को बिना बेहोश किए हुए उनकी शल्यक्रिया की जाती है तो उन्हें घृणा होती थी। इसी बीच भूगर्भ विज्ञानी रॉबर्ट जेमसन के सम्पर्क में आने के बाद से पृथ्वी के इतिहास को जानने-समझने में उनकी रुचि में अत्यधिक अभिवृद्धि हुई। चार्ल्स डार्विन के पिता ने जब यह देखा कि चार्ल्स डॉक्टरी पढ़ने में रुचि नहीं ले रहे हैं तो निराश होकर 1827 में उन्हें धर्म विज्ञान के अध्ययन के लिए कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी भेज दिया। प्रारंभ में चार्ल्स ने इंग्लैंड के चर्च की पारंपरिक आस्था में रुचि दिखाई, किन्तु यहाँ उन्होंने शिकार, घुड़सवारी, निशानेबाज़ी और मित्रों के साथ खेलकूद में अधिक रुचि ली। वे कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी से प्राकृतिक विज्ञान की डिग्री तो न ले पाये लेकिन अपने से बड़े चचेरे भाई कीटविज्ञानी विलियम डार्विन की प्रेरणा से तितलियों को एकत्र किया और उनके विषय में काफी जानकारी प्राप्त की। तितलियों के अध्ययन का उनका यह सिलसिला आजीवन चलता रहा।

तितलियों को पकड़ने से संबंधित उनके बचपन की एक घटना का उल्लेख करना समीचीन होगा। उन्होंने अपने दोनों हाथों में दो सुन्दर तितलियाँ पकड़ रखी थीं। इसी समय उन्हें एक और सुन्दर तितली दिखी। फिर क्या था, उन्होंने एक हाथ की तितली को झट से मुँह में रखा और तीसरी तितली पकड़ ली। मुँह में रखी तितली विषैली थी। किसी प्रकार डार्विन की जान बची। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के दौरान एक और बड़ी उपलब्धि यह रही कि वे एक वनस्पतिविज्ञानी जॉन स्टीवेंस हेंसलो के सम्पर्क में आये। हेंसलो ने चार्ल्स के अंदर विज्ञान के बारे में रुचि जगायी तथा चार्ल्स को प्रोत्साहित किया।

चार्ल्स डार्विन ने 1831 में कैम्ब्रिज छोड़ दिया। वे कैनेरी द्वीपों की वैज्ञानिक यात्रा की तैयारी में जुट गए। इस समय उन्होंने हेंसलो के सुझाव पर अलेक्जैण्डर वॉन हम्बोल्ट की यात्रा संबंधी एक पुस्तक 'पर्सनल नैरेटिव ऑव ट्रैवेल्स टू द इक्वीनाक्शियल रीजन्स ऑफ द न्यू कांटिनेंट' का अध्ययन किया। यह पुस्तक दक्षिणी अमेरिका और उत्तरी भागों की एक यात्रा का विवरण है। हेंसलो की संस्तुति के आधार पर चार्ल्स डार्विन ने कैम्ब्रिज के भूगर्भ विज्ञान के उडवर्डियन प्रोफेसर एडम सेजविक के साथ तीन सप्ताहों तक रह कर नॉर्थ वेल्स में भूविज्ञान संबंधी क्षेत्रीय अध्ययन की यात्रा सम्पन्न की। डॉ0 हेंसलो की ही संस्तुति पर अगस्त 1831 में चार्ल्स डार्विन एच.एम.एस. बीगल नामक जलपोत पर अवैतनिक प्रकृतिविज्ञानी के रूप में चुन लिए गए। इस जलपोत का कार्य पूर्वी और पश्चिमी दक्षिण अमेरिका के सागर तटों का सर्वेक्षण और यात्रा जारी रखते हुए प्रशान्त महासागर के द्वीपों का सर्वेक्षण भी था। इस जहाज के कैप्टेन थे रॉबर्ट फिट्जराय।

27 दिसम्बर 1831 को चार्ल्स डार्विन बीगॅल की यात्रा पर प्लाईमाउथ, इंग्लैण्ड से चल पड़े। बीगॅल की यात्रा पर चार्ल्स डार्विन पूरी तरह तैयार होकर गए थे। अपने साथ वे अपनी कुछ निजी पुस्तकें भी ले गए थे। हेंसलो के सुझाव पर वे चार्ल्स लायल द्वारा लिखी गई पुस्तक 'प्रिंसिपल ऑफ जियोलॉजी' भी अपने साथ ले गए थे। इस पुस्तक ने चार्ल्स डार्विन को अत्यधिक प्रभावित किया। लायल के अनुसार पिछले लम्बे समय में भूचाल, ज्वालामुखी, अपरदन आदि कारकों के मिले-जुले प्रभाव से पृथ्वी के भीतर निरंतर धीरे-धीरे परिवर्तन होते रहे हैं। इस प्रकार की हैरतअंगेज घटनायें वर्तमान में भी देखी जा सकती हैं। किन्तु यह विचार उस विचार से भिन्न है जो यह मानता रहा है कि पृथ्वी में परिवर्तन का कारण अल्पकालिक प्रचण्ड घटनायें रही हैं जिनसे पर्वत ऊपर उठ गए और धरती जलाप्लावित हो गई। यात्रा के प्रथम सप्ताह में ही चार्ल्स डार्विन ने अपने निरीक्षणों के बाद चार्ल्स लायल के विचारों को स्वीकार कर लिया।

बीगॅल की यात्रा से 5 वर्ष बाद लौटने के पूर्व ही चार्ल्स डार्विन ने हेंसलो को कई पत्र लिखे थे जिनमें उन्होंने महाद्वीपीय परिवर्तन (कॉन्टिनेंटल चेंज) संबंधी अपने विचार प्रकट किए थे। हेंसलो चार्ल्स डार्विन के विचारों को प्रकाशित करवाते रहते थे। इस कारण बीगॅल की 5 वर्ष की यात्रा के बाद जब चार्ल्स डार्विन वापस आये तो उसके पूर्व ही वे अत्यधिक प्रसिद्ध हो चुके थे। इसमें हेंसलो का बहुत बड़ा हाथ था।

हेंसलो ने डार्विन को डार्विन महान बनाया।

चार्ल्स डार्विन चिड़ियों के पंख, सीपियों, घोंघों, पत्थरों और जीवाश्मों के नमूनों आदि का विशाल भण्डार अपने साथ लाए थे। पाँच वर्ष की कठिन यात्रा के बाद 2 अक्टूबर 1936 को बीगॅल वापस लौटा था। डार्विन ने इस अवधि में अटलांटिक सागर, दक्षिण अमेरिका के समुद्री तटों, ताहिती, तस्मानिया, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, मॉरिशस सहित दक्षिणी प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीपों की यात्राएँ कीं। इनमें गेलापॅगॉस द्वीप की यात्रा डार्विन के विकासवादी विचारों को आकार देने की दृष्टि से विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इन पाँच वर्षों में डार्विन ने प्रकृति के ऐश्वर्य और रहस्यों को देखा-परखा। इस यात्रा ने ही डार्विन की जीवनधारा की दिशा निश्चित कर दी। डार्विन सुप्रसिद्ध हो चुके थे। शीघ्र ही उन्हें भूगर्भशास्त्र की एक संस्था का मंत्री बना दिया गया। इस पद पर वे तीन वर्षों (1838-1841) तक रहे।

सन् 1839 में अपने मामा जोशिया वेजवुड द्वितीय की पुत्री एम्मा वेजवुड से विवाह कर लिया। उनकी पत्नी एम्मा वेजवुड ने डार्विन को गृहस्थी की झंझटों से बचाए रखा। डार्विन ने अपनी पत्नी को 'बेस्ट वाइफ' कहा है। पहले लंदन और बाद में केन्द्र प्रान्त के डाउनवुड नामक ग्राम्य निवास में जाकर वे बस गए। प्रारंभ में उन्होंने द्वीपों पर किए गए अध्ययनों पर आधारित कुछ रचनाएँ प्रकाशित कीं किन्तु साथ ही उनका शोधकार्य भी चलता रहा।

सन् 1842 में डार्विन ने प्राकृतिक चयन (नेचुरल सेलेक्शन) की रूपरेखा तैयार कर ली। इस पर माल्थस के लेख 'पॉपुलेशन' का प्रभाव देखा जा सकता है। वर्ष 1856 तक उनका शोधकार्य पूरा हो चुका था। डार्विन ने लिखना भी प्रारंभ कर दिया था। इसी बीच अल्फ्रेड रसेल वैलेस नामक एक ब्रिटिश अन्वेषक और प्रकृति विज्ञानी ने डार्विन की राय जानने के लिए उनके पास अपना एक छोटा निबंध 1858 में भेजा, जो लगभग डार्विन द्वारा स्थापित किए जा रहे सिद्धांतों की ही पुनरावृत्ति-सा था। यह विचार वैलेस के दिमाग में तब कौंधा जब वे मलाया के जंगलों में खोज कर रहे थे और मलेरिया से पीड़ित थे। बाद में डार्विन और वैलेस के नाम से एक शोधपत्र संयुक्त रूप से शोध पत्रिका में प्रकाशित हुआ। सन् 1859 में उनकी पुस्तक 'द ओरिजिन ऑफ स्पीशीज़' प्रकाशित हुई। पहले ही दिन पुस्तक की 1250 प्रतियाँ बिक गईं। इस पर मिली-जुली प्रतिक्रियाएँ आईं। किन्तु अंततः डार्विन के क्रांतिकारी विचार, पुरातन

विचारों पर भारी पड़े क्योंकि डार्विन ने अपने विचारों को साक्ष्यों द्वारा पुष्ट कर रखा था। इस पुस्तक के बाद चार्ल्स रॉबर्ट डार्विन सारे संसार में विख्यात हो गए।

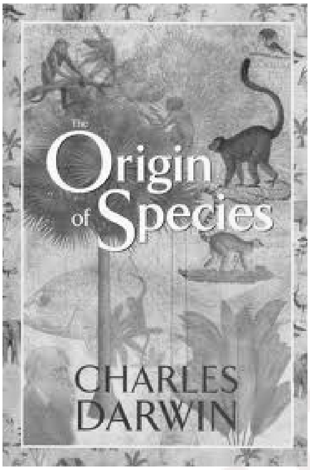

द ओरिजिन ऑफ स्पीशीज़

डार्विन ने अपनी, इस कृति में विकासवाद के सिद्धान्त की स्थापना की है। डार्विन के अनुसार समस्त जीव प्रजातियों का विकास लाखों-करोड़ों वर्षों में हुआ है और जीव प्रजातियों का विकास एक समान पूर्वज के माध्यम से हुआ है। वैसे ऐसा नहीं कि डार्विन से पूर्व के विज्ञानी विकासवाद से अपरिचित थे, किन्तु डार्विन ने इतने अधिक साक्ष्य प्रस्तुत किए थे जिसके कारण डार्विन के सिद्धान्त को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। डार्विन के इस सिद्धान्त या डार्विनवाद का मूलमंत्र यह है कि विकास प्राकृतिक वरण के द्वारा हुआ है। इस सिद्धान्त ने जीवन के विकास को वैज्ञानिक अवधारणा का स्वरूप प्रदान किया है। इस सिद्धान्त ने वैज्ञानिक क्रांति का सूत्रपात तो किया ही, जीवन का संभवतः ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था जो डार्विन के सिद्धान्त से प्रभावित न हुआ हो।

यह सच है कि डार्विन ने, मुख्य रूप से जिस विचार को प्रस्तावित किया वह शत प्रतिशत नया विचार नहीं था, नई अवधारणा नहीं थी। यह विचार कि प्रजातियाँ परिवर्तित होती हैं, ग्रीक, रोमन, चीनियों और मुसलमानों द्वारा प्रतिपादित रहा है। इस प्रकार के विचार अपरिवर्तनीय रूपों संबंधी विचार से प्रतियोगिता नहीं कर सकते थे क्योंकि अपरिवर्तनशील रूपों को बनाने वाले देवता थे। एक बात और, इस विचार को कभी विज्ञान की कसौटी पर नहीं कसा गया था या यों कहें कि

HBCSE

विज्ञानसम्मत खोज नहीं हुई थी।

19वीं शताब्दी के प्रारंभ में जीन बैपटिस्ट लामार्क द्वारा प्रतिपादित विचार जो प्रजातियों के रूपांतरण (ट्रांसम्यूटेशन) से संबंधित था, के अनुसार जीव की आदतें अथवा रहन-सहन उसकी शारीरिक संरचना में संशोधन करती है। उदाहरण के लिए छोटे वृक्षों की पत्तियों का जब छोटी गर्दन वाले जिराफों ने सफाया कर दिया तब भोजन के लिए बड़े वृक्षों की पत्तियों तक पहुँचने के लिए बारंबार प्रयास करने से उनकी गर्दन धीरे धीरे कुछ लम्बी हो गई। लामार्क के अनुसार जब छोटी गर्दन वाले जिराफ लम्बी गर्दन वाले हो गए तो अगली पीढ़ी में लम्बी गर्दन वाले जिराफ पैदा होंगे। लामार्क का यह सिद्धान्त पूरी तरह से प्रतिपादित विकासवाद का पहला सिद्धान्त था। किन्तु ऐसा संभव नहीं है। अर्जित लक्षण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानान्तरित नहीं होते हैं। इस प्रकार लामार्क का सिद्धान्त गलत साबित हुआ।

इस सबसे एक सत्य जो उभर कर सामने आता है वह यह कि विकासवाद के सिद्धान्त के लिए समय अनुकूल हो चुका था। सत्य, जो और किसी को नहीं दिखा, उसे डार्विन ने देख लिया। सन् 1859 में जब डार्विन की पुस्तक 'ओरिजिन ऑफ स्पीशीज़' प्रकाशित हुई तो उसे पढ़ने के बाद टी.एच. हक्सले ने स्वयं से कहा- 'मैं कितना बेवकूफ था कि मैंने इस तरह से पहले क्यों नहीं सोचा।'

पवित्र पुस्तक 'बाइबिल' के अनुसार यह पृथ्वी लाखों वर्ष पुरानी है, किन्तु 'बाइबिल' में कहे गए समय से कहीं अधिक पुरानी है धरती, यह विचार 18वीं शताब्दी में ही भूगर्भशास्त्रियों ने व्यक्त किया था। अठारहवीं शताब्दी में थामस माल्थस नामक अर्थशास्त्री ने भी देखा था कि पादप और प्राणी प्रजातियाँ जीवित बचने वाली संख्या से कहीं अधिक संख्या में संततियाँ उत्पन्न करती हैं ताकि अनुकूल भिन्नतायें संरक्षित कर ली जाएँ और अधिकतर विभिन्नताओं को नष्ट कर दिया जाए। यही नहीं, 18वीं शताब्दी के अंत तक इतनी अधिक संख्या में जीवाश्मों के नमूने न केवल ढूँढ लिए गए थे वरन् उनका निरीक्षण-परीक्षण भी कर लिया गया था और यह स्वीकार भी कर लिया गया था कि पत्थरों के भीतर, प्राचीनकाल में धरती पर निवास करने वाले जीवित जीवों का रिकॉर्ड छिपा हुआ है। चार्ल्स डार्विन को अपना सिद्धान्त प्रतिपादित करने के लिए इन विचारों से बड़ी सहायता मिली।

निष्क्रिय अंगों की उपस्थिति, भ्रूणीय विकास का तरीका, समान शारीरिक योजना, और यह कि सभी प्राणियों में सहभागी मस्तिष्क होता है, के आधार पर डार्विन ने अपना सिद्धान्त बनाया। इसमें प्राचीन काल के आदि प्रारूपों के रूपांतरित वर्णक्रम शामिल थे। इस सिद्धान्त में जो कमी थी वह यह कि परिवर्तन के लिए कौन सी बनावट जिम्मेदार थी?

यहाँ डार्विन के सिद्धान्त के मुख्य बिन्दुओं को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है-

1- अति-उत्पादन (ओवरप्रोडक्शन)

प्रकृति में पेड़-पौधे और जानवर अत्यधिक संख्या में संततियाँ उत्पन्न करते हैं, किन्तु जीवित बचने वालों की संख्या कम होती है। यह सिद्धान्त माल्थस का भी है।

2- अस्तित्व के लिए संघर्ष (स्ट्रगल फॉर इक्जिस्टेंस)

(ये शब्द वास्तव में स्पेंसर नामक विज्ञानी के हैं।)

अति उत्पादन के कारण जीवित रहने के लिए संघर्ष होता है। संघर्ष सक्रिय हो सकता है जैसा जानवरों में होता है अथवा निष्क्रिय हो सकता है, जैसा पेड़-पौधों में होता है। विजेता जीवित रहते हैं, विजित विलुप्त हो जाते हैं।

3- विभेद या सतत् परिवर्तन (वेरिएशन)

यह आवश्यक नहीं कि संततियाँ आपस में समान हों। ये आपस में एक दूसरे से भिन्न भी होती हैं। इस प्रकार के विभेद कभी तो जीवित रहने के लिए संघर्ष में सहायक होते हैं और कभी ये ही विभेद दोष भी हो सकते हैं। इस प्रकार कभी तो यह विभेद अपेक्षाकृत सुविधाजनक होता है और कभी असुविधाजनक।

4- प्राकृतिकवरण या श्रेष्ठतम की उत्तरजीविता (नेचुरल सेलेक्शन ऑर सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट)

अतएव यह स्वाभाविक ही है कि वे जो उत्तरजीविता के लिए सुविधाजनक हैं, अंततः जीवित रहते हैं और जो जीवित रहने के योग्य नहीं हैं, उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार आगे चलकर वे विभेद जो योग्य नहीं होते, वे नष्ट हो जाते हैं, और जो योग्य हैं, श्रेष्ठ हैं, उन्हें जीवित रहने के लिए छोड़ जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति एक अति उत्तम माली की भाँति चयन की प्रक्रिया का प्रयोग करती है। और इस

दौरान उन सभी को जो जीवित रहने लायक नहीं हैं, उन्हें प्रकृति नष्ट कर देती है।

5- आनुवांशिकता और प्रजातियों का उद्भव (हेरीडिटी एण्ड ओरिजिन ऑफ स्पीशीज़)

जब श्रेष्ठ जीवन रूप (लाइफ फॉर्म्स) जीवित रहते हैं, विभेद उन्हें विजेता बनाते हैं अर्थात् उपयोगी विभेद उनकी संततियों में चले जाते हैं। इसलिए ये विभेद उनके लक्षण के अंग हो जाते हैं और तब संततियाँ अपने माता-पिता से बेहतर सिद्ध होती हैं।

इस प्रकार प्रकृति नई से नई प्रजातियाँ विकसित करती रहती है और विकास के दौरान प्रगति होती रहती है। किन्तु प्रायः पर्यावरण में ऐसे परिवर्तन होते हैं जिन्हें कभी प्रगति समझा जाता था, वे असुविधाजनक सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि पेलियोज़ोइक और मीसोज़ोइक (पुराजीवी और मध्यजन्तु काल 33 करोड़ वर्ष पूर्व और 12 करोड़ वर्ष पूर्व) काल के विशाल वृक्ष और जानवर विलुप्त हो चुके हैं।

डार्विन के समय में आज की बहुत-सी खोजें नहीं हुई थीं। इसलिए डार्विन यह नहीं बता सके कि प्रकृति के चुनाव का ढंग क्या है। हमें प्रकृति द्वारा चुनाव के ढंग को जानने के लिए बीसवीं शताब्दी की प्रतीक्षा करनी पड़ी। बीसवीं सदी में जब आनुवांशिक विज्ञान की स्थापना हो गई और डीएनए की खोज हो गई, तब डार्विन के सिद्धान्त की सत्यता भी सिद्ध हो गई। वर्ष 1953 में वाटसन और क्रिक ने डीएनए की संरचना का विस्तार से खुलासा कर दिया। आज हम जानते हैं कि जितने तरह का डीएनए हो सकता है, उतने तरह के जीवन रूप भी हो सकते हैं। और इसी के बाद यह भी सिद्ध हो गया कि डार्विन कितने सही थे। वर्ष 2010 डार्विन का 201वाँ जन्म वर्ष है और उनकी महान पुस्तक 'ओरिजिन ऑफ स्पीशीज़' के प्रकाशन का 151वाँ वर्ष है। चार्ल्स डार्विन आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने अपने जीवन काल में थे।

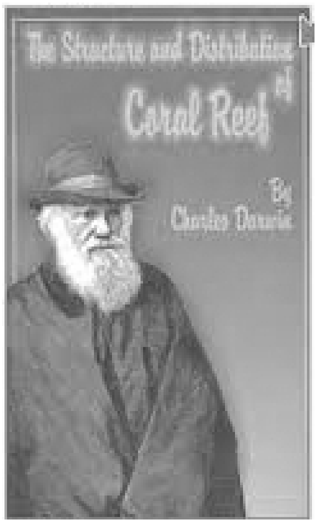

19वीं सदी का यह प्रकृतिविज्ञानी अब तक के समस्त महान विज्ञानियों में से एक है। यही नहीं, डार्विन को गैलीलियो, न्यूटन और आइंस्टीन जैसे

HBCSE

अप्रतिम विज्ञान विभूतियों के समान समझा जाता है। 19 अप्रैल 1882 को चार्ल्स रॉबर्ट डार्विन का निधन हो गया और उन्हें वेस्टमिन्स्टर एबे में न्यूटन की कब्र के निकट दफ़नाया गया। 'ओरिजिन आफ स्पीशीज़' के प्रकाशन के पूर्व और पश्चात कुछ महत्वपूर्ण प्रकाशन ये हैं।

1842 : 'द स्ट्रक्चर ऐण्ड डिस्ट्रिब्यूशन ऑफ कोरल रीफ्स'

1844 : 'जियोलॉजिकल ऑब्ज़र्वेशन आन वॉल्कैनिक आइलैण्ड्स'

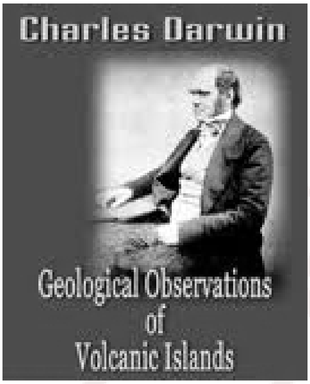

1846 : 'जियोलॉजिकल आब्ज़र्वेशन आन साउथ अमेरिका'

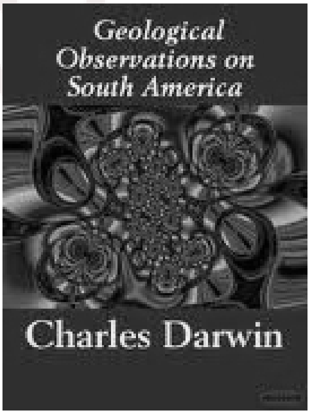

1851, 1854 : 'प्राकृतिक वरण' के सिद्धांत से सम्बन्धित डार्विन और वैलेस का संयुक्त शोधपत्र 'लिनियन सोसायटी' की मीटिंग में प्रस्तुत

4 नवम्बर 1859 : 'द ओरिजिन आफ स्पिशीज़ बाइ मीन्स आफ नेचुरल सेलेक्शन आर द प्रिज़र्वेशन आफ फेवर्ड रेसेज़ इन द स्ट्रगल फॉर लाइफ'

1862 : 'फर्टिलाइज़ेशन आफ आर्किड्स'
1865 : मूवमेंट्स ऐण्ड हैबिट्स आफ क्लाइम्बिंग प्लांट्स
1868 : 'द वेरिएशंस ऑफ प्लांट्स एण्ड ऐनिमल्स अण्डर डोमेस्टिकेशन'
1871 : 'द डिसेंट ऑफ मैन'
1872 : 'द एक्सप्रेशन ऑफ द इमोशन्स इन मैन एण्ड एनिमल्स'
1875 : 'इन्सेक्टिवोरस प्लांट्स'
1876 : 'द इफेक्ट्स ऑफ क्रॉस एण्ड सेल्फ फर्टिलाइज़ेशन इन द वेजिटेबिल किंगडम'
1876 : 'वॉल्कैनिक आइलैण्ड्स'
1877 : 'डिफ्रेंट फॉर्म्स ऑफ फ्लावर्स ऑन प्लांट्स ऑफ द सेम स्पीशीज़'
1880 : 'द पॉवर ऑफ मूवमेन्ट इन प्लांट्स'
1881 : 'द फार्मेशन ऑफ वेजिटेबिल मोल्ड थ्रू द ऐक्शन ऑव वर्म्स'

➢ पूर्व-संपादक, 'विज्ञान'
अनुकम्पा
वाई-2 सी-,115/6
त्रिवेणीपुरम्, झूँसी
इलाहाबाद-211009

HBCSE

जैव विविधता तथा उसका संरक्षण

▪ डॉ. सोनाली चतुर्वेदी

परिभाषा

स्थूल रूप में जैव विविधता पृथ्वी पर जीवन का पर्याय है। यह जैव विविधता विश्व के किसी दिये गये क्षेत्र में जीनों, प्रजातियों, पारिस्थितिकी तंत्रों की संपूर्णता है। जैव विविधता को प्रजातियों की विभिन्नता या किसी प्राकृतिक समुदाय या आवास में अन्य पादप व जन्तुओं या किसी परिवेश विशेष के समुदाय पारिस्थितिक विविधता या आनुवांशिक विविधता के रूप के तौर पर परिभाषित किया जा सकता है।

जून 1992 में UNCED/यूनिकैड, जैव विविधता पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (United Nations Conference on Biological Diversity) के पृथ्वी सम्मेलन के दौरान जैव विविधता पर बने अन्तर्राष्ट्रीय संविधान के अनुच्छेद-2 के अनुसार जैव विविधता को इस प्रकार परिभाषित किया गया है: सभी स्रोतों से आये सजीव जीवों के बीच भिन्नता जिसमें इण्टर एलिया (Inter-alia) थलीय, समुद्री व अन्य जलीय पारिस्थितिकी तंत्रों के वे भाग सम्मलित हैं जिनमें प्रजातियों के अंदर की, आपस की, तथा पारिस्थितिकी तंत्रों की विविधता सम्मलित है।

जैव विविधता के स्तर (LEVELS OF BIODIVERSITY)

जैव विविधता में तीन पदानुक्रमी स्तर सम्मलित हैं-

1. आनुवांशिक विविधता (GENETIC DIVERSITY)
2. प्रजाति विविधता (SPECIES DIVERSITY) तथा
3. समुदाय एवं पारिस्थितिकतंत्र विविधता (COMMUNITY AND ECOSYSTEM DIVERSITY)

(1) आनुवांशिक विविधता

यह प्रजातियों के अन्दर ही जीन की विविधता से सम्बन्धित है। भिन्नताएँ ऐलीलों में एक ही जीन के विभिन्न विचरों पूर्ण जीन में किसी विशेष गुण को निर्धारित करने वाले विशेषक अथवा गुणसूत्री संरचनाओं में हो सकती है। आनुवांशिक विविधता, किसी प्रजाति की जनसंख्या को उसके परिवेश में ढ़ालने

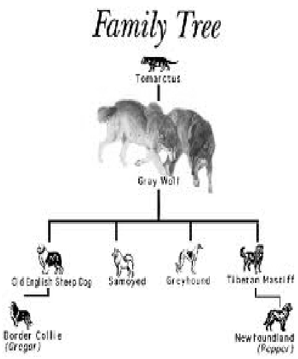

आनुवांशिक विविधता

और प्राकृतिक चयन पर प्रतिक्रिया करने में समर्थ बनाती है। यदि किसी प्रजाति में अधिक आनुवांशिक विविधता होती है तो वह अच्छे ढंग से बदली हुई पर्यावरण स्थितियों को अपना सकती है। यही जाति उद्भवन (speciation) (नई जाति का विकास) का आधार हैं। किसी समुदाय की कुल आनुवांशिक विविधता उस स्थिति में अधिक होती है, बजाय उस स्थिति के जब उसमें प्रजातियों की संख्या कम होती है।

(2) **प्रजाति विविधता**

यह क्षेत्र के भीतर जातियों के विभिन्न प्रकारों से संबंधित है। सामान्यतः जितनी अधिक प्रजाति समृद्धता होगी, उतनी ही अधिक प्रजाति विविधता होगी। वह क्षेत्र अधिक विविध होगा जिसमें वर्गीकीय रूप से असंबंधित प्रजातियाँ अधिक होंगी।

प्रजाति विविधता

(3) समुदाय तथा पारिस्थितिकी तन्त्र विविधता

पारिस्थितिक तन्त्र के स्तर पर विविधता के तीन प्रकार हैं। ये निम्न हैं:-

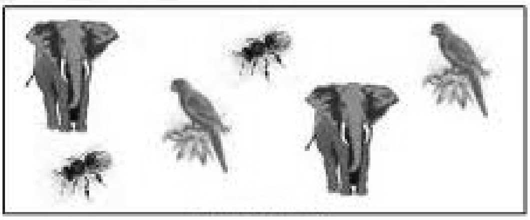

समुदाय तथा पारिस्थितिकी तन्त्र विविधता

(1) अल्फा विविधता (Alpha Diversity) – समुदाय के भीतर विविधता, अल्फा विविधता कहलाती है। इसका अर्थ जीवों की उस विविधता से है जो एक ही समुदाय/आवास में रहते हैं।

(2) बीटा विविधता (Beta Diversity) – समुदाय के मध्य विविधता को बीटा विविधता कहते हैं। यह आवासों अथवा समुदायों की प्रवणता (gradient) के आधार पर प्रजाति के स्थापन होने की दर है।

(3) गामा विविधता (Gamma diversity) – किसी क्षेत्र की सम्पूर्ण

विविधता गामा विविधता कहलाती है। यह सम्पूर्ण भूदृश्य अथवा भौगोलिक क्षेत्र में आवासों की विविधता है।

भूमण्डलीय, राष्ट्रीय तथा स्थानीय स्तरों पर जैव विविधता (Biodiversity at global, national and local levels)

अक्षांश (latitude) अथवा उन्नतांश (altitude) में परिवर्तन के साथ ही जैवविविधता में भिन्नता आ जाती है। पृथ्वी पर सभी जीवों की प्रजातियों की कुल ज्ञात तथा वर्णित संख्या 17 लाख से 18 लाख के बीच है जो कि वास्तविक संख्या 15 प्रतिशत से भी कम है। कुल प्रजातियों की अनुमानित संख्या 50 लाख से 5 करोड़ के बीच हो सकती है।

तालिका-1

समूह	**प्रजातियों की संख्या**
उच्च पादप (Higher Plants)	2,70,000
शैवाल (Algae)	40,000
कवक (Fungi)	72,000
जीवाणु सायनोबैक्टीरिया को मिलाकर (Bacteria including cyanobacteria)	4,000
विषाणु (Virus)	1550
स्तनधारी जीव (Mammals)	4,650
पक्षी (Birds)	9,700
सरीसृप जीव (Reptiles)	7,150
मत्स्य/मछली (Fish)	26,959
उभयचरी जीव (Amphibians)	4,780
कीट (Insects)	10,25,000
क्रस्टेशियाई जीव (Crustaceans)	43,000
मोलस्क (Mollusc)	70,000
निमेटोड तथा कृमि (Nematodes & worms)	25,000
प्रोटोज़ोआ (protozoa)	40,000
अन्य (others)	

तालिका-1: पूरे विश्व से प्रजातियों की अनुमानित संख्या जिनका वर्णन और पहचान की जा चुकी है, औसतन 14 करोड़ मानी गई है। इन ज्ञात प्रजातियों में से लगभग 61% कीटों की ही है। विज्ञान में स्तनधारी जीवों की मात्र 4650 प्रजातियाँ ही ज्ञात हैं। पादपों (2,70,000) तथा कशेरुकी जीवों (vertebrates) की अनेकों प्रजातियाँ हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रजातियाँ हैं जिनका अभी तक वर्णन नहीं किया गया है। भूमण्डल, राष्ट्रीय

HBCSE

तथा स्थानीय स्तरों पर काफी तेज़ी से नई प्रजातियों की खोज की जा रही है।

वृहत्त-विविधता देश के रूप में भारत (India as a Mega-Diversity Nation)
भारत की जैव विविधता विश्व की सबसे महत्त्वपूर्ण जैव विविधताओं में से एक है। यह विश्व के बारह वृहत्-जैव विविधता केन्द्रों में से एक है क्योंकि यहाँ जैविक संसाधनों की समृद्ध जैवविविधता है। यहाँ लगभग 40,000 पादप प्रजातियाँ हैं जो विश्व की कुल वनस्पतियों की 7 प्रतिशत हैं। लगभग 4900 पुष्पीय पादपों की प्रजातियाँ भारत की स्थानिक हैं। यही नहीं, जानवरों की भी 88,000 प्रजातियाँ भारत से रिकॉर्ड की गई हैं जो विश्व के प्राणिजगत के 4.6 % को दर्शाती है। इसके अतिरिक्त यहाँ भारत में 14 भिन्न प्रकारों के जलवायवी वन पाए जाते हैं जो 6,50,000 वर्ग कि.मी. क्षेत्र में फैले हुए हैं।

जैवविविधता के तप्त स्थल (Hot Spots of Biodiversity)
तप्तस्थल पृथ्वी पर पादपों तथा जानवरों के प्रजाति समृद्ध सबसे अधिक खतरे में पड़े भण्डार हैं। नोर्मन मायर्स (1988) ने स्वस्थान (अपने स्थान पर), [in site (on site)] संरक्षण के लिए प्राथमिकता क्षेत्रों को निर्मित करने के लिए तप्त स्थल अवधारणा को विकसित किया था। तप्त स्थल का निर्धारण करने के लिए प्रमुख मानक हैं-

1. स्थानिक प्रजातियों अर्थात उन प्रजातियों की संख्या जो कहीं अन्यत्र नहीं पाई जाती हों (endemic species) तथा
2. खतरे की मात्रा जिसे आवास लुप्तता (habitat loss) के रूप में मापा जाता है। जैव विविधता के संरक्षण के लिए पच्चीस थलीय तप्तस्थानों की पहचान की जा चुकी है ये पृथ्वी के लगभग 1.4 प्रतिशत थलीय क्षेत्र में फैले हुए हैं। 16 तप्त स्थल तो ऊष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में ही हैं। लगभग 20 प्रतिशत मानव जनसंख्या तप्तस्थल क्षेत्रों में ही रहती है। भारत में दो तप्तस्थल हैं जो पश्चिमी घाट तथा पूर्वी हिमालय क्षेत्र हैं। ये क्षेत्र पुष्पीय पादपों, सरीसृप जीवों, उभयचरी जीवों, स्वेलो टेल्ड तितलियों (Swallow tailed butterflies) तथा कुछ स्तनधारी जीवों में भी समृद्ध हैं। ये दोनों तप्त स्थल उच्च स्तर की स्थानिकता (Endemism) भी दर्शाते हैं।

जैव विविधता को खतरे (Threats to Biodiversity)
आवास विलुप्तता, वन्य जीवन का शिकार, मानव व वन्य जीव विवाद (Habitat loss, Poaching of Wild Life, Man and wild life Conflicts)

जैव विविधता की विलुप्तता एक भूमण्डलीय संकट है और पृथ्वी पर शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र है जो पारिस्थितिक आपदाएँ नहीं झेल रहा है। भौगोलिक इतिहास में जैविक विलुप्तता एक प्राकृतिक घटना होती है लेकिन मानव के हस्तक्षेप अथवा दखल ने विलुप्तता की दर को बढ़ा दिया है। जैव विविधता को इनसे मुख्य खतरे हैं-

1. आवास विलुप्तता तथा खंडन (Habitat loss and fragmentation) – विश्व भर में उष्णकटिबंधीय वनों तथा आर्द्र क्षेत्रों (wet lands) एवं अन्य जैविक रूप से समृद्ध पारिस्थितिक तन्त्रों का विनाश जैव विविधता के विलुप्त होने का प्रमुख कारण है। जब मनुष्य वृक्षों की कटाई, आर्द्र क्षेत्रों की भराई, घास के मैदानों की जुताई कर देते हैं अथवा वनों को जला देते हैं तो प्रजातियों का प्राकृतिक आवास परिवर्तित अथवा नष्ट हो जाता है।
2. विक्षोभ तथा प्रदूषण (Disturbance and Pollution) – आग लगना, वृक्षों का गिरना, कीटों द्वारा पत्तों को गिराना ऐसे प्राकृतिक विक्षोभ हैं जो समुदायों को प्रभावित करते हैं। मानव द्वारा आग का अधिक प्रयोग समुदाय की प्रजाति समृद्धता को बदल सकता है। प्रदूषण संवेदनशील प्रजातियों की जनसंख्या को कम अथवा बिल्कुल समाप्त कर सकता है। जलीय कायाओं का सुपोषण (eutrophication), पोषण समृद्धता तेजी से प्रजाति विविधता को कम कर देते हैं।
3. विदेशी प्रजाति की पुरःस्थापना (Introduction of exotic species) – किसी भौगोलिक क्षेत्र में आने वाली नई प्रजातियाँ विदेशी प्रजातियाँ कहलाती हैं। ऐसी कब्ज़ा करने वाली नई प्रजातियों की पुरःस्थापना से जैविक परस्पर क्रियाओं (Biotic interaction) के द्वारा स्थानीय प्रजाति के लुप्त होने की सम्भावना रहती है।
4. शिकार तथा शिकारचोरी (Hunting and poaching) - मनोरंजन, भोजन, खाल, फर, सींगों, दाँतों आदि के लिए वन्य जीवों का अनियन्त्रित रूप से शिकार करने से जैव विविधता के बने रहने को गम्भीर खतरा पैदा हो गया है।

इनके साथ ही जैव विविधता को कुछ अन्य खतरे निम्न हैं-

1. मछली पकड़ना
2. मरुस्थलीकरण
3. स्थानान्तरी जुताई अथवा झूम खेती (वृक्षों को काटकर जला दिया जाता है तथा फसलों को पोषक तत्वों से समृद्ध राख में उगाया जाता है।

4. तप्त स्थल
5. भूमण्डलीय जलवायु परिवर्तन
6. उच्च जनसंख्या
7. औद्योगिक कृषि
8. आर्थिक तन्त्र तथा नीतियाँ जो पर्यावरण के महत्व पर जोर देने में असफल हैं।
9. जानकारी का अभाव

तालिका-2 आई. यू.सी.एन. (IUCN) की खतरे में पड़ी श्रेणियाँ

रेड लिस्ट कैटेगरी	परिभाषा
विलुप्त (Extinct)	किसी टैक्सोन/वर्गक को तब विलुप्त माना जाता है जब उसमें कोई संदेह नहीं रह जाता है कि उसका अन्तिम जीव भी मर चुका है।
जंगल में विलुप्त (Extinct in the wild)	किसी टैक्सोन/वर्गक को वन्य रूप में विलुप्त तब माना जाता है जब उसके ज्ञात अथवा/ तथा सम्भावित आवासों में सघन रूप से खोज करने पर भी एक भी जीव नहीं पाया जाता है।
गंभीर रूप से संकटापन्न (Critically Endangered)	किसी टैक्सोन/वर्गक को गम्भीर रूप से संकटापन्न तब माना जाता है जब उसके निकट भविष्य में ही वन्य रूप में विलुप्त होने की प्रबल सम्भावना हो।
संकटापन्न (Endangered)	कोई वर्गक/टैक्सोन तब खतरे में माना जाता है भले ही जब वह गम्भीर रूप से संकटापन्न न हो लेकिन उसके निकट भविष्य में वन्य रूप में विलुप्त होने का खतरा हो।
सुभेद्य (Vulnerable)	कोई वर्गक/टैक्सोन तब सुभेद्य माना जाता है जब वह गम्भीर रूप से संकटापन्न, अथवा संकटापन्न न हो लेकिन उसके आने वाले समय में वन्य रूप में विलुप्त हो जाने का खतरा हो।

HBSE

कम संकट में (Lower Risk)	वर्गक/टैक्सोन को कम संकट में तब माना जाता है जब उसका मूल्यांकन किए जाने पर वह गम्भीर रूप से खतरे में अथवा संवेदनशील होने के मानकों पर खरा नहीं उतरता है।
आँकड़ो की कमी (Data Deficient)	किसी वर्गक/टैक्सोन को आँकड़ों की कमी वाला तब माना जाता है जब उसके विलुप्त होने के संकट के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष मूल्यांकन के लिए आंकड़े अपर्याप्त होते हैं।
मूल्यांकित नहीं (Not Evaluated)	किसी टैक्सोन/वर्गक को तब मूल्यांकित नहीं माना जाता है जब उसे अभी तक उपर्युक्त मानकों के लिए मूल्यांकित नहीं किया गया होता है।

जैव विविधता का संरक्षण (CONSERVATION OF BIODIVERSITY)- स्वस्थानिक तथा बाह्यथानिक जैव विविधता का संरक्षण (Conservation of Biodiversity : in-situ and ex-situ Conservation of Biodiversity)- यह हमारा नैतिक उत्तरदायित्व है कि हम अपने पृथ्वी ग्रह की देखभाल करें और उसे अच्छी हालत में अगली पीढ़ी को सौंपें। हमने भावी पीढ़ियों को उन आर्थिक और सौंदर्यबोधक लाभों से वंचित नहीं करना चाहिए जो वे जैव विविधता से प्राप्त कर सकते हैं। इसे जैव विविधता का संरक्षण करके ही प्राप्त किया जा सकता है। जैव विविधता के संरक्षण के लिए दो मूलभूत नीतियाँ हैं- स्वस्थानिक (in-situ) तथा बाह्यस्थानिक (ex-situ)।

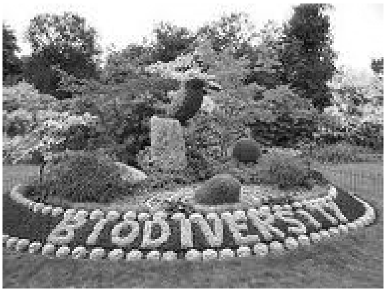

जैव विविधता का संरक्षण

स्वस्थानिक संरक्षण युक्तियाँ (IN-SITU CONSERVATION STRATEGIES)
इन संरक्षण युक्तियों में पूरे पारिस्थितिक तन्त्र की सुरक्षा की जाती है। स्वस्थानिक नीति में संरक्षित क्षेत्रों के जाल तन्त्र के माध्यम से प्ररूपिक

पारिस्थितिक तन्त्रों के समूह का संरक्षण किया जाता है।

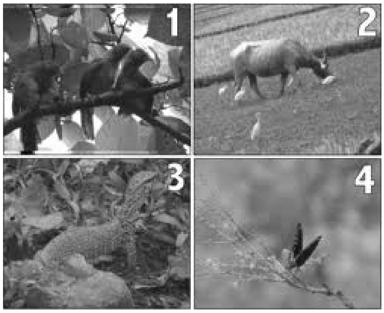

स्वस्थानिक संरक्षण युक्तियाँ

संरक्षित क्षेत्र (PROTECTED AREAS)- थल तथा/ अथवा समुद्र के कुछ ऐसे क्षेत्र होते हैं जो विशेषतः जैविक विविधता के संरक्षण तथा रखरखाव के लिए समर्पित होते हैं। संरक्षित क्षेत्रों के उदाहरण हैं; राष्ट्रीय उद्यान (National Parks), वन्य जीव अभयारण्य (Wild Life Sanctuaries) तथा जीवमण्डल रिजर्व (Biosphere reserves), पवित्र वन (Sacred forests), पवित्र ताल (Sacred lakes), आदि। विश्व संरक्षण निरीक्षण केन्द्र (World Conservation Monitoring Centre) ने विश्व भर में 37,000 संरक्षित क्षेत्रों की पहचान की हैं। सितम्बर 2002 के बुलेटिन के अनुसार, भारत में 581 संरक्षित क्षेत्र हैं (89 राष्ट्रीय उद्यान तथा 492 वन्य जीव अभ्यारण्य) जो थलीय सतह के 4.7 प्रतिशत भाग को घेरे हैं। जिम कार्बेट राष्ट्रीय उद्यान, भारत में स्थापित होने वाला पहला राष्ट्रीय उद्यान है। संरक्षित क्षेत्रों के कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं-

(a) ये सभी वर्तमान प्रजातियों की आनुसंशिक विविधता को संरक्षित रखते हैं।

(b) प्रजातियों/आवासों के लिए जानवरों में परिवर्तन के अनुसार परिवर्तन को सम्भव बनाते हैं।

(c) विदेशी प्रजातियों की मानव द्वारा पुरःस्थापना को रोकते हैं।

(d) सभी निवासी प्रजातियों की जीवनक्षम जनसंख्या को बनाये रखते हैं।

राष्ट्रीय उद्यान (National Parks)- ये सरकार द्वारा देखरेख किए जाने वाले संरक्षित क्षेत्र अथवा रिजर्व होते हैं जहाँ जैवविविधता की हर तरह से रक्षा की जाती है अर्थात् यहाँ खेती, मवेशी चराना, शिकार आदि नहीं किया जा सकता है। यहाँ प्राकृतिक तथा राष्ट्रीय सौन्दर्य के बड़े क्षेत्र भी होते हैं जिनका रख-रखाव वैज्ञानिक, शैक्षिक तथा मनोरंजन क्षेत्र के रूप में किया जाता है। भारत के कुछ प्रमुख राष्ट्रीय उद्यान निम्नलिखित हैं- जिम

कार्बेट (उत्तराखण्ड), दुधवा (उ.प्र.), गिर (गुजरात), कान्हा (म.प्र.), ताडोबा (महाराष्ट्र), आदि।

तालिका-3, संरक्षित क्षेत्र (Protected Areas)-

	राष्ट्रीय उद्यान (National Park)	अभ्यारण्य (Sanctrury)	जीवमण्डल रिजर्व (Biosphere Reserve)
1.	किसी विशेष वन्य जन्तु प्रजाति जैसे चीता, बाघ, हंगुल, गैंडा आदि के आवास के रूप होते हैं।	सामान्यतः प्रजाति भिमुख होते हैं जैसे सिट्स (Citnus), पिचर प्लांट (Pitcher plant), बटेर (Great Indian Bustard)	किसी एक, दो अथवा अधिक प्रजातियों से बंधे नहीं होते हैं बल्कि पूरे पारिस्थितिक तन्त्र से अर्थात् सभी जीवन प्रकारों की सम्पूर्णता से जुड़े अर्थात् पारिस्थितिक तन्त्र अभिमुख होते हैं।
2.	भारत में ये 0.04 से 3162 वर्ग किमी. माप के हैं। सबसे प्रचलित लगभग 40% में माप 100 से 500 वर्ग किमी है, 15% में 500 से 1000 वर्ग किमी है।	इनका माप विस्तार 0.61 से 7818 वर्ग किमी तक का है। सबसे प्रचलित लगभग 40% में 100 से 500 वर्ग किमी है। 25% में 500 से 1000 वर्ग किमी. है।	माप विस्तार 5670 वर्ग किमी. से अधिक होता है।
3.	इनकी सीमाओं का निर्धारण विधि अनुसार होता है।	इनकी सीमाएँ अलंघनीय नहीं होती है।	सीमाएँ विधि अनुसार निर्धारित होती है।
4.	बफर क्षेत्र के अतिरिक्त और कहीं जैविक हस्तक्षेप नहीं होता है।	सीमित जैविक हस्तक्षेप।	बफर क्षेत्र के अतिरिक्त कहीं जैविक हस्तक्षेप नहीं होता है।
5.	पर्यटन की अनुमति है।	पर्यटन की अनुमति है।	सामान्यतः पर्यटन की अनुमति नहीं है।
6.	अनुसंधान तथा वैज्ञानिक प्रबन्धन नहीं है।	नहीं है।	प्रबन्धन होता है।

7.	अभी तक जीन कोशों तथा संरक्षण पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है।	अभी तक ध्यान नहीं दिया गया है।	ध्यान दिया गया है।

अभ्यारण्य (Sanctuaries)- ये वे क्षेत्र होते हैं जहाँ शिकार की अनुमति नहीं होती है लेकिन अन्य गतिविधियों जैसे खेती, मवेशी चराने, वन उत्पादों को एकत्रित करने की अनुमति होती है। संरक्षित क्षेत्रों की देख-रेख वैज्ञानिक, अध्ययन, शैक्षिक तथा पर्यावरणीय निरीक्षण के लिए की जाती है। कुछ प्रमुख भारतीय अभ्यारण्य हैं- सरिस्का (राजस्थान), रणथम्बौर (राजस्थान), डाचीगेम (जम्मू और काश्मीर), पेरियार (केरल), मानस (आसाम), कवल (आन्ध्र प्रदेश), पोचरम (आन्ध्र प्रदेश) आदि।

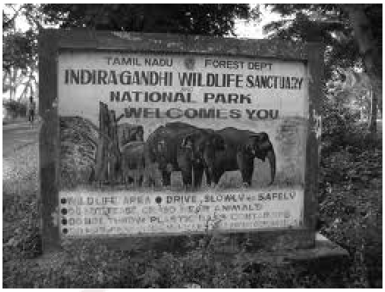

अभ्यारण्य

तालिका-4, भारत के कुछ प्रमुख राष्ट्रीय उद्यान तथा अभ्यारण्य

	राज्य	राष्ट्रीय उद्यान तथा अभ्यारण्य का नाम
1.	उत्तराखण्ड	गोविन्दघाट, नंदा देवी, राजाजी, जिम कार्बेट
2.	झारखण्ड	हजारी बाग, पलामू, डलमा
3.	आन्ध्र प्रदेश	कवल, पोचरम, पाखल, नीटापटू
4.	गोआ	मोलन
5.	गुजरात	गिर, वेलावदर, नल सरोवर
6.	मणिपुर	केबुल लम्जाओ
7.	उड़ीसा	चिल्का लेक, सिमिली पाल, सत्कारिया
8.	उत्तर प्रदेश	दुधवा
9.	तमिलनाडू	मुडुमलाई, अन्नमलाई, वेदमथंगल, गुइन्डी, वेटनगुड़ि

HBCSE

10.	पश्चिम बंगाल	सुंदरवन, जल्दापाड़ा, सजनाखली, महानंदी, डियर पार्क
11.	हिमाचल प्रदेश	सेचू-तुम-नाला
12.	मध्य प्रदेश	कान्हा, शिवपुरी, बांधवगढ़
13.	सिक्किम	कंचनजंगा
14.	राजस्थान	घना, रणथम्बौर, सरिस्का
15.	केरल	पेरियार, वेनार्ड, नेय्यर, नागरहोल पार्क
16.	मेघालय	बालपकरन
17.	मिजोरम	डंपा
18.	नागालैण्ड	इंटाग्की
19.	पंजाब	अबोहर
20.	अरूणाचल प्रदेश	नामडाफा
21.	आसाम	मानस, काजीरंगा
22.	बिहार	बेल्टा
23.	हरियाणा	सुल्तानपुर लेक
24.	जम्मू-कश्मीर	डाचीगेम
25.	महाराष्ट्र	टडोबा, पेंच, नवीगाँव, बोरी, करनाला, यावल, ढाकना-कोलकाज़
26.	कर्नाटक	रंगनथीटू, बांदीपुर, नागरहोल

जीवमण्डल रिजर्व (Biosphere Reserve)- जीवमण्डल रिजर्व थल तथा/अथवा समुद्री परिवेश के विशेष श्रेणी के संरक्षित क्षेत्र हैं। ये विभिन्न प्रतिनिधि पारिस्थितिक तन्त्रों के बहुउद्देशीय संरक्षित क्षेत्र हैं जो जैवविविधता अथवा वन्य जीवन, जनजातियों की पारम्परिक जीवन शैली तथा उनके

पालतू जानवरों व पादप संसाधनों के संरक्षण के लिए तथा वैज्ञानिक अनुसंधान निरीक्षण तथा शिक्षा के लिए सहायता प्रदान करने के लिये बने हैं। प्रत्येक जीवमण्डल रिजर्व में तीन क्षेत्र होते हैं- प्राकृतिक अथवा कोर क्षेत्र (Core Area) जहाँ किसी मानव गतिविधि की आज्ञा नहीं है बफर क्षेत्र (Buffer zone) जहाँ सीमित मानव गतिविधि है तथा संक्रमण क्षेत्र (transition zone) जहाँ पारिस्थितिकी को क्षति पहुँचाए बिना मानव गतिविधि की अनुमति है।

जीवमण्डल रिजर्व की अवधारणा की शुरूआत 1975 में यूनेस्को के मानव तथा जीवमण्डल कार्यक्रम के एक भाग के रूप में हुई थी। मई 2002 तक 94 देशों में 408 जीवमण्डल रिजर्व बन गये थे। भारत में 13 जीवमण्डल रिजर्व हैं-

1. नंदा देवी - उत्तराखण्ड
2. नोकरेकम - मेघालय
3. मानस - आसाम
4. डिब्रू साइखोवा - आसाम
5. देहांग-देबांग - अरुणाचल प्रदेश
6. सुन्दरवन - पश्चिम बंगाल
7. मन्नार की खाड़ी - तमिलनाडु
8. नीलगिरी - तमिलनाडु, केरल तथा कर्नाटक
9. ग्रेट निकोबार - अण्डमान व निकोबार द्वीप समूह
10. सिमिलिपाल - उड़ीसा
11. संजेन्डोंगा - सिक्किम
12. पचमढ़ी - मध्य प्रदेश
13. अगस्त्यमलाई - केरल

पवित्र वन तथा पवित्र ताल (Sacred Forest and Sacred Lakes)- ये विविध आयामों के वन के क्षेत्र हैं जो जनजातीय समुदायों द्वारा संरक्षित हैं क्योंकि उनकी धार्मिक पवित्रता उनसे जुड़ी है। इन वनों में जैवविविधता संरक्षित है क्योंकि ये सबसे अनछुए वन हैं जहाँ मानव का कोई हस्तक्षेप नहीं है। भारत में पवित्र वन कुछ भागों में स्थित हैं जैसे- कर्नाटक, महाराष्ट्र, केरल, मेघालय आदि तथा ये अनेक दुर्लभ, खतरे में पड़े तथा स्थानिक वर्गकों की शरणस्थली का काम कर रहें हैं। सिक्किम में कुछ जलीय क्षेत्रों (जैसे- खेचियोपालरी लेक) को लोगों द्वारा पवित्र घोषित कर दिया गया है जिसमें वहाँ के जलीय वनस्पतिजात् को संरक्षण दिया जा

HBCSE

सके।

पवित्र वन

पवित्र ताल

जैवविविधता संरक्षण

जीन बैंक (Gene Banks)- खतरे में पड़ी प्रजातियों के डी.एन.ए. को संग्रहालयों, प्राणि उद्यानों अथवा पादपालयों में संरक्षित किया जाता है। सजीव तत्वों का यह प्राणि उद्यान जन्तुओं, वानस्पतिक संग्रहों तथा बीजों के रूप में संग्रह के साथ डी.एन.ए. के संग्रहों को मिलाकर जीन बैंक कहा जाता है। इनके द्वारा किसी प्रजाति का बंदीकृत अवस्था में प्रजनन करना तथा उसे तब मुक्त करना जब स्थितियाँ अधिक अनुकूल हों सम्भव हो गया है।

जननद्रव्य या जर्मप्लाज्म का संग्रह तथा संरक्षण (Collection and Preservation of Germplasm)

जर्मप्लाज्म अथवा जननद्रव्य महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि यह विभिन्न उपयोगी विशेषकों का स्रोत होता है। उदाहरण के लिए रोग प्रतिरोधकता के लिए उपयोगी गुण अक्सर जीवों की वन्य प्रजातियों में पाये जाते हैं। यूनेस्को ने इसके लिए **मानव तथा जीवमण्डल** (Man and Biosphere) तथा जीवमण्डल रिजर्व कार्यक्रम, बी.आर.पी. (Biosphere Reserve Programme) चलाए हैं। विश्व बैंक भी इस प्रकार के जर्मप्लाज्म संरक्षण की परियोजनाओं के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करता है।

क्रिप्टो संरक्षण (Cryptopreservation)

यह किसी तत्व की बहुत कम तापमान पर संचयन की विधि है (स्वस्थानिक संरक्षण, विशेषतः पर तरल नाइट्रोजन में -196 डिग्री सेल्सियस

तापमान पर) यह विधि कायिक प्रवर्धन करने वाली फसलों जैसे आलू के संरक्षण के लिए बहुत उपयोगी है। वस्तुओं को लम्बे समय तक के लिए, कम तापमान वाले प्रशीतन कक्षों में संरक्षित किया जा सकता है।

कुछ स्वयंसेवी संगठनों ने भी जैवविविधता के संरक्षण के लिए अभियान चलाने आरम्भ कर दिये हैं जैसे- चिपको अभियान (Chipko Movement), 1972 में उ.प्र. (अब उत्तरांचल) के टिहरी-गढ़वाल क्षेत्र में श्री सुन्दरलाल बहुगुणा के नेतृत्व में चलाया गया था। इसी तरह अप्पिको चालुवली अभियान (Appiko Chaluvali Movement) कर्नाटक के उत्तर कनारा जिले में श्रीपांडुरंग हेगड़े के नेतृत्व में चला। चिपको अभियान ने लाभ कमाने वाली कम्पनियों द्वारा वनों की अंधाधुंध कटाई के विरुद्ध स्थानीय लोगों को आगे आकर उनकी रक्षा करने के लिए प्रोत्साहित किया। लोग पेड़ों को पकड़ कर खड़े हो गये और ठेकेदारों को पेड़ो को काटना बन्द करने के लिए विवश होना पड़ा।

इस तरह निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि जैवविविधता प्रकृति की अनमोल धरोहर है। इसका सर्वप्रकारेण संरक्षण तथा संवर्धन हम सभी का सामाजिक, नैतिक तथा राष्ट्रीय कर्तव्य है। आइए, इस कार्य में हम सभी अपना हाथ बटाएं।

➢ रीडर
वनस्पति विज्ञान विभाग
इविंग क्रिश्चियन कालेज
इलाहाबाद

HBCSE

विकलांगों की शिक्षा और कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी

▪ विनोद कुमार मिश्र

कम्प्यूटर आज मात्र एक इलेक्ट्रॉनिक उपकरण नहीं रह गया है। यह जीवन का अभिन्न अंग बन गया है। शहर देहात, अमीर गरीब कोई भी वर्ग इससे अछूता नहीं है। यह शिक्षा, रोज़गार, चिकित्सा, मनोरंजन, दैनिक जीवन की अन्य गतिविधियों का मुख्य आधार बन गया है। यह लोगों को जोड़ने का भी प्रमुख साधन बन गया है।

कम्प्यूटर

विकलांगता व उसका प्रभाव

विकलांगता एक जटिल व बहुआयामी समस्या है। यह मनुष्य के जीवन पर सीधे प्रभाव भी डालती है और इसके साथ अनेक अप्रत्यक्ष प्रभाव भी पड़ने लगते हैं। इनमें से चंद इस प्रकार हैं :

कुछ लोगों के हाथ या पैर नहीं होते हैं या कट जाते हैं या विकृत और कमज़ोर होते हैं जिनके कारण वे इनका समुचित उपयोग नहीं कर पाते हैं। कुछ लोग देख नहीं पाते हैं या बहुत कम देखे पाते हैं या वे कुछ रंगों को ही देख पाते हैं। कुछ लोग सुन नहीं पाते हैं या बहुत कम सुन पाते हैं। कुछ लोग मंदबुद्धि होते हैं। वे बहुत कम व बहुत देर में कोई काम सीख पाते हैं। इनमें से कुछ दोहराने वाले कार्य कर लेते हैं पर कुछ वे भी नहीं कर पाते हैं।

कुछ लोग डिस्लैक्सिया, डिस्कैल्कूलिया, डिस्ग्राफिया जैसे रोगों से पीड़ित होते हैं। इनका कारण मस्तिष्क में किसी छोटे भाग में उत्पन्न

विकृति होता है जो स्थायी होती है। इसके कारण ये स्पैलिंग में गलतियाँ, गणना में गलतियाँ, चित्र समझने आदि में गलतियाँ करते हैं। इस प्रकार की विकृतियों का पता देर में चल पाता है। पर इनके कारण बच्चों को बहुत कठिनाइयाँ होती हैं और इनकी विपरीत छवि बन जाती है।

कुछ लोग सेरेब्रल पाल्सी से पीड़ित होते हैं। इनके हाथ या पैर दोनों हिलते रहते हैं। पर इनका मस्तिष्क आमतौर पर सशक्त होता है। अनेक लोगों में उपरोक्त एक से अधिक विकृतियाँ होती हैं। उनका सम्मिलित प्रभाव जीवन को अत्यंत दयनीय बना देता है।

कम्प्यूटर नेटवर्क और उसका लाभ

आज कम्प्यूटर का उपयोग एकल रूप में ही नहीं होता है वरन इसके नेटवर्क के रूप में बहुत अधिक होता है। यह प्रयास किया जा रहा है कि इस नेटवर्क का विस्तार संसार के कोने कोने तक हो तथा कोई भी वर्ग इससे अछूता ना रहे। इसके पीछे अनेक कारण है, उदाहरण के तौर पर इस पर सूचनाओं का प्रवाह सरल है तथा तीव्रगति से होता है। यह सस्ता भी है।

यह पर्यावरण के लिए मित्रवत है। इसके उपयोग से कागज़ आदि की भारी बचत होती है। जिससे पर्यावरण को राहत मिलती है। इसके प्रयोग से शारीरिक श्रम भी बचता है। इस श्रम व समय का उपयोग अब अन्य उपयोगी कार्यों में किया जा रहा है।

यह अब शिक्षा और रोज़गार, विशेष रूप से व्यापार का प्रमुख साधन बन गया है। अनेक प्रकार की व्यावसायिक गतिविधियाँ इसके द्वारा बड़े बड़े पैमाने पर की जा रही हैं। खरीदने बेचने जैसी गतिविधियों का यह प्रमुख माध्यम बन गया है। और इस कारण कोई भी वर्ग यह नहीं चाहता है कि समाज का कोई भी वर्ग इससे अछूता रहे।

कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी का अनुकूलन

कोई भी समाज तब तक पूर्ण व विकसित नहीं माना जा सकता है जब तक उसका हर वर्ग शेष समाज के साथ राष्ट्र की मुख्यधारा से न जुड़ जाए। अतः कम्प्यूटर व कम्प्यूटर नेटवर्क का उपयोग विकलांग जन भी कर सकें, यह केवल विकलांग वर्ग के हित में ही नहीं है वरन शेष समाज के भी है। यहाँ एक अन्य तथ्य यह है कि विकलांग वर्ग समाज का कोई कटा हुआ या अलग थलग वर्ग नहीं है। समाज के हर धर्म जाति सम्प्रदाय

में विकलांगता व्याप्त है और ग्रामीण, दूरदराज के गरीब क्षेत्रों में यह अधिक है पर शहरी व अमीर क्षेत्रों में भी यह कम नहीं है। बदलती जीवन शैली पर्यावरण व पारिस्थितिकी को हो रहा नुकसान, दुर्घटनाएँ, आतंकवाद इस समस्या को भयावह रूप दे रहे हैं, विश्वव्यापी तो यह पहले से ही है। अतः इस कम्प्यूटर व्यवस्था का हर प्रकार की विकलांगता के अनुरूप अनुकूलन अनिवार्य है।

सरल तथा बहुपयोगी

प्रारम्भ में सोचने में यह लगता है कि कम्प्यूटर तंत्र का विकलांगताओं के अनुरूप अनुकूलन एक अत्यंत कठिन, श्रमपूर्ण व खर्चीला काम होगा। समाज के एक अत्यंत छोटे वर्ग (पिछली जनगणना के अनुसार मात्र 2-3 प्रतिशत, अन्यथा तकरीबन 5 फीसदी) के लिए क्यों इतना कुछ किया जाए। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि यह सब एक ही वर्ग के लिए किया जाए तो क्या यह कीमत प्रभावी होगा।

उपरोक्त मिथक चंद उदाहरणों में ही टूट जाएगा आइये देखें कैसे : एरगोनॉमिक्स के दृष्टिकोण से : एरगोनॉमिक्स वह विषय है जिसके अंतर्गत मानव व मशीन के मध्य अधिकाधिक संतुलन स्थापित किया जाता है। उदाहरण के तौर पर कार चलाने वाले के लिए सीट इस प्रकार डिज़ाइन की जाती है कि छोटे कद का, बड़े कद का, मोटा पतला व्यक्ति जब कार चलाए तो उसे अपने कद आदि के कारण किसी सीमा का सामना न करना पड़े और वह विभिन्न नियंत्रण तंत्र जैसे स्टीयरिंग, ब्रेक, क्लच, एक्सीलरेटर आदि का प्रयोग कर सके और कद व अन्य कारणों के कारण दुर्घटना का सामना ना करना पड़े।

उपरोक्त व्यवस्था में विकलांगता से जुड़े एक या अधिक पहलुओं को भी यथासंभव जोड़ा जा सकता है। उदाहरण के तौर पर यदि किसी का एक हाथ नहीं है या एक पैर नहीं है या कमज़ोर है तो छोटी-सी अतिरिक्त व्यवस्था के द्वारा कार चलाना संभव हो जाता है। उपरोक्त दृष्टिकोण सभी के लिए लाभदायक होता है। जीवन में अनेक बार दुर्घटना आदि के कारण व्यक्ति अस्थायी या स्थायी रूप से विकलांग हो जाता है और ऐसे में उपरोक्त सस्ती सरल अतिरिक्त व्यवस्था अति मूल्यवान सिद्ध होती है।

इसी प्रकार की व्यवस्था कम्प्यूटर तंत्र में की जा सकती है तथा अब वह की भी जा रही है। अनेक विकलांगजन अपने कमज़ोर शरीर के

कारण कम्प्यूटर के सामने या तो अधिक देर बैठ नहीं पाते हैं या उनके हाथ कम्प्यूटर के विभिन्न अंगों तक पहुँच नहीं पाते हैं। कुछ मामलों में उपयोगकर्ता की उंगलियाँ इतनी कमज़ोर होती हैं कि वे बटन तक नहीं दबा पाती हैं। प्रख्यात वैज्ञानिक स्टीफन हॉकिंग इसका प्रमुख उदाहरण हैं।

इस व्यवस्था के अनेक उपाय हैं। अब ऐसे की-बोर्ड उपलब्ध हैं जिनका उपयोग करने में न्यूनतम कष्ट होता है और टाइप करने में थकान कम होती है। इस प्रकार के की-बोर्ड न केवल विकलांगों के लिए लाभदायक होते हैं वरन वृद्धजनों के लिए भी उपयोगी होते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि आजकल उम्रदराज लोग भी बहुतायत से कम्प्यूटर का इस्तेमाल कर रहे हैं। चिट्ठी-पत्री का स्थान ईमेल व मोबाइल संदेश ले रहे हैं। बड़ी उम्र में आजकल लोग गठिया जैसी बीमारियों के शिकार हो रहे हैं जो उन्हें विकलांगता की ओर ले जा रही हैं।

इनपुट का उपयोग

कम्प्यूटर का उपयोग करने के लिए उपयोगकर्ता को सर्वप्रथम इनपुट का उपयोग करना होता है। अतः इनपुट व्यवस्था का विकलांगता के अनुरूप अनुकूलन सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। इसके लिए अनेक प्रकार के उपाय विभिन्न प्रकार की विकलांगताओं के अनुरूप उपलब्ध हैं। इनमें से निम्न प्रमुख हैं।

विस्तृत आकार के कीबोर्ड उपलब्ध हैं जिनमें बड़े आकार की 'की' होती है और उनके बीच अंतर भी अधिक होता है। इस प्रकार का कीबोर्ड अल्प दृष्टि के लिए भी उपयोगी होता है और उन लोगों के लिए भी जिनके हाथ विकृत व अति कमज़ोर होते हैं तथा हिलते रहते हैं। इस 'की-बोर्ड' की सहायता से कार्य करते समय गलत 'की' दबने की संभावना नहीं होती है।

छोटा व सघन प्रकार का कीबोर्ड भी आज उपलब्ध है। यह कीबोर्ड उनके लिए भी उपयोगी होता है जिनके हाथ या हाथों की गतिविधि अत्यंत सीमित होती है। ये लोग सामान्य प्रकार के 'की-बोर्ड' का उपयोग करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। उपरोक्त दोनों प्रकार के 'की-बोर्ड' में भी विभिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। कुछ में सभी साझी (कॉमन) की दाईं होती हैं और कुछ में बाईं ओर। उपयोगकर्ता अपनी सुविधा या सीमा के अनुरूप उनका उपयोग कर सकता है।

अनेक मामलों में कीबोर्ड में सीमित 'की' ही होती है और वे अनेक प्रकार से उपयोग में हो जाती हैं। कुछ में चमकीले (कंट्रास्ट) रंगों वाली 'की' होती हैं, जिनसे अल्पदृष्टिवान उपयोगकर्ता को बिल्कुल भी कठिनाई नहीं होती है। कुछ में खुदे या उभरे अक्षर होते हैं जिनका उपयोग पूर्ण नेत्रहीन व्यक्ति भी कर सकते हैं।

माउस आदि में परिवर्तन

कम्प्यूटर का उपयोगकर्ता माउस का भरपूर उपयोग करता है। पर अनेक विकलांगजन माउस का उपयोग नहीं कर पाते हैं। वे उचित प्रकार से क्लिक नहीं कर पाते हैं। अनेक लोगों के हाथ ही नहीं होते हैं। अनेक लोग कीबोर्ड या माउस दोनों का उपयोग नहीं कर पाते हैं। अब इनके लिए भी उपाय हैं। चंद इस प्रकार हैं :

पैर से चलने वाले माउस भी उपलब्ध हैं।

पैर से चलने वाले की-बोर्ड भी उपलब्ध हैं।

अन्य वैकल्पिक व्यवस्थाएँ भी उपलब्ध हैं जैसे :

- लोमाक (LOMAK) की-बोर्ड

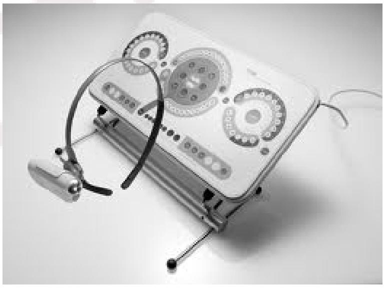

लोमाक

- जॉयस्टिक

जॉयस्टिक

HBCSE

- ट्रैकबॉल

ट्रैकबॉल

- टच पैड

टच पैड

दृष्टि आधारित इनपुट जैसे आई ट्रैकर की-बोर्ड भी आ चुके हैं जिनका उपयोग देखने मात्र से हो जाता है तथा ये स्टीफन हॉकिंग जैसे व्यक्तियों के लिए अतिउपयोगी हैं।

"की-बोर्ड" को आसान बनाने वाले सॉफ्टवेयर

'की-बोर्ड' को और सरल व उपयोगी बनाने के लिए अनेक प्रकार के सॉफ्टवेयर भी उपलब्ध हैं। इनमें निम्न प्रमुख हैं :

माउस को हिलाने, दोहरा क्लिक करने आदि के लिए वैकल्पिक व्यवस्था मामूली में अतिरिक्त है। यह अस्थि विकलांगों के लिए उपयोगी सिद्ध होती है। कुछ मामलों में "टॉगल कीज़" आधारित व्यवस्था होती है जिसमें जब कैप्स लॉक, न्यूमेरिकल लॉक, स्क्रॉल लॉक होते हैं तो उच्च ध्वनि होती है और जब ये (इनमें से एक भी नहीं होता) आफ होते हैं तो हल्की ध्वनि सुनाई दती है। इससे अल्पदृष्टिवान उपयोगकर्ता भ्रमित नहीं होता है।

अनेक मामलों में 'प्वाइंटर' का रंग, आकार व स्वरूप बदलने का

प्रावधान कर दिया जाता है जिससे उपयोगकर्ता को अनेक प्रकार के संकेत मिल जाते हैं। ये अल्पदृष्टिवान उपयोगकर्ता के लिए अति उपयोगी सिद्ध होते हैं। उपयोगकर्ता की सुविधा के लिए अनेक प्रकार के शॉर्टकट हेतु प्रोग्राम कर दिए जाते हैं। सॉफ्टवेयर द्वारा किए गए ये शॉर्टकट उन उपयोगकर्ताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं जिन्हें की-बोर्ड के उपयोग में विशिष्ट कठिनाई होती है।

अनेक उपयोगकर्ता शिफ्ट (Shift), कंट्रोल (Ctrl) तथा आल्ट (Alt) का उपयोग करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। सॉफ्टवेयर का उपयोग करते हुए इनका विकल्प भी तैयार कर दिया जाता है। इससे दो उंगलियों का उपयोग करने या किसी 'की' को दबाए रखने की अनिवार्यता समाप्त हो जाती है।

कुछ अन्य प्रकार के सॉफ्टवेयर
विभिन्न प्रकार के सॉफ्टवेयर कम्प्यूटर को बहुपयोगी बना देते हैं। इनमें से चंद उदाहरण इस प्रकार हैं।

स्क्रीन मैग्नीफायर : स्क्रीन के भाग को विशाल रूप में प्रदर्शित करने वाला सॉफ्टवेयर अब आम हो चुका है। इससे अल्पदृष्टि वालों को सुविधा होती है और वे मॉनिटर पर आयी सामग्री के भाग को पढ़ व देख पाते हैं।

स्क्रीन मैग्नीफायर

स्क्रीन रीडर : इस प्रकार के सॉफ्टवेयर के उपयोग से उपयोगकर्ता स्क्रीन पर आने वाली सामग्री को सुन सकता है। इसके लिए कम्प्यूटर के साथ वॉयस सिंथेसाइज़र भी जोड़ा जाता है। यह सिंथेसाइज़र, संश्लेषित अर्थात कृत्रिम वाणी में सुनाता चला जाता है जिससे पूर्ण नेत्रहीन उपयोगकर्ता के लिए भी कम्प्यूटर का उपयोग सहज हो जाता है।

स्क्रीन रीडर

पूर्ण नेत्रहीन उपयोगकर्ता छपी हुई सामग्री नहीं पढ़ पाते हैं। अब इसके लिए भी व्यवस्था उपलब्ध है। स्कैनर द्वारा छपी हुई सामग्री इलेक्ट्रॉनिक टेक्स्ट में परिवर्तित हो जाती है और वह कम्प्यूटर के स्क्रीन पर आ जाती है। साथ में लगा वायस सिथेंसाइज़र उसे कृत्रिम वाणी में सुनाता चला जाता है।

नेत्रहीनों का एक बड़ा वर्ग ब्रेल पर काफी निर्भर है। कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी ने ब्रेल के उत्पादन को सरल बनाया है और आज कम्प्यूटर का उपयोग तथा ब्रेल का उपयोग परस्पर एक दूसरे पर निर्भर भी हो गया है। कम्प्यूटर से प्राप्त आउटपुट को सुगमता से ब्रेल में परिवर्तित किया जा सकता है। अनेक लोग ब्रेल में टाइप करते हैं। ब्रेल में केवल छह कुंजियों की सहायता से टाइपिंग होती है। इस कारण यह तीव्रगति से होती है। अब ऐसे सॉफ्टवेयर भी उपलब्ध हैं जो ब्रेल में टाइप की गई सामग्री को सामान्य भाषा में परिवर्तित कर देते हैं।

ऐसे सॉफ्टवेयर भी उपलब्ध हैं जो लिखित या मुद्रित सामग्री को वाणी में परिवर्तित कर देते हैं और वाणी में दी गई सामग्री को इलेक्ट्रॉनिक या छपी हुई सामग्री में परिवर्तित कर देते हैं। इनसे अनेक प्रकार की विकलांगता से पीड़ितों को लाभ होता है। जो लोग बिल्कुल टाइप नहीं कर पाते हैं वे भी कम्प्यूटर का उपयोग कर लेते हैं। स्पैल चेकर व ग्रामर चैकर अब त्रुटियों या वैकल्पिक स्पैलिंग आदि को न केवल स्क्रीन पर दर्शाते हैं बल्कि बोलकर भी सुनाते हैं।

अन्य परिवर्तन

कम्प्यूटर का आउटपुट अभी भी मुख्यतः मॉनिटर ही है। नेत्रहीन इस पर आई हुई सामग्री सुनकर प्राप्त कर लेते हैं जबकि अल्पदृष्टिवान व्यक्तियों के लिए बड़े आकार के मॉनिटर भी उपलब्ध हैं। इसके स्क्रीन पर रंगों

आदि में परिवर्तन किया जा सकता है ताकि इनका अधिकाधिक उपयोग हो सके|

श्रवण बाधितों को कम्प्यूटर के उपयोग में सबसे कम परेशानी होती है| चूँकि वे शेष संसार से काफी हद तक कटे रहते हैं अतः वे अपना काफी ध्यान केन्द्रित कर पाते हैं| इस कारण सॉफ्टवेयर उद्योग या सॉफ्टवेयर आधारित उद्योग में उनके सफल होने की संभावना अधिक होती है| लेकिन मल्टीमीडिया उत्पादों के उपयोग में उन्हें बहुत कठिनाई होती है| वे इनके ध्वनि सम्बन्धित भाग को नहीं ग्रहण कर पाते हैं| इसके लिए आजकल कैप्शन का उपयोग होता है तथा इससे श्रवण बाधित जन यह समझ जाते हैं कि क्या बताया व दर्शाया जा रहा है| मल्टीमीडिया में स्थिति व ध्वनि, दृष्टिबाधितों के उपयोग में आते हैं|

सुगम वेबसाइट

आज सूचना के युग में जहाँ हर व्यक्ति अधिकाधिक सूचनाएँ प्राप्त करना चाहता है वहीं पर जिन व्यक्तियों के पास सूचनाएँ हैं वे यह चाहते हैं कि उनकी दी जाने वाली सूचनाएँ अधिकाधिक रूप से सभी तक पहुँचें और इसके लिए विशेष प्रयास किए जा रहे हैं कि विकलांगता के कारण कोई वर्ग इन सूचनाओं से वंचित न रह जाए ।

वेबसाइटें सूचनाओं का प्रमुख माध्यम हैं और इस कारण वेबसाइटों की डिज़ाइन इस प्रकार तैयार की जा रही हैं कि इसकी श्रव्य, दृश्य सामग्री इसमें स्थित नक्शे, चित्र, एनिमेशन आदि सभी के लिए सुगम हों| नेत्रहीनों, श्रवण बाधितों का हर प्रकार से ध्यान रखा जा रहा है और अनेक देशों ने ऐसे कानून भी बनाए हैं जिनसे वेबसाइटों का सभी के लिए सुगम होना अनिवार्य हो चुका है| अब हर प्रकार के विकलांग साथ में उपलब्ध सॉफ्टवेयर जैसे स्क्रीन रीडर आदि की सहायता से वेबसाइट पर उपलब्ध सामग्री का लाभ उठा रहे हैं|

कम्प्यूटर आधारित उपकरण

नई दृष्टि का उपयोग कम्प्यूटर ही नहीं कम्प्यूटर आधारित उपकरणों की डिज़ाइन व निर्माण में भी होता है| आज हर प्रकार की विकलांगता से पीड़ित व्यक्ति कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी का लाभ जीवन के विभिन्न चरणों में उठा रहे हैं|

डिस्लैक्सिया, डिस्कैल्कुलिया, डिस्ग्राफिया जैसी छिपी हुई बीमारियों से पीड़ित बच्चों की पहचान भी कम्प्यूटर आधारित उपकरणों से होती है तथा उनको अतिरिक्त सहायता जैसे स्पैलिंग की त्रुटियाँ कम करने, गणना की त्रुटियाँ कम करने, चित्रों को पहचानने की क्षमता बढ़ाने के उपयोग भी कम्प्यूटर आधारित उपकरणों द्वारा किए जाते हैं। सीखने सम्बन्धी विकलांगता, मंदबुद्धिता आदि का आकलन भी इसी आधार पर बेहतर तरीके से हो पाता है। अभी इस दिशा में और कदम उठाए जाने की आवश्यकता है तथा उपरोक्त तकनीकों व उनके बारे में समझ को देश भर में तथा दूर दराज के गाँव-गाँव तक पहुँचाना आवश्यक है।

➢ सी-1, सैल अपार्टमेंट
वसुंधरा एन्क्लेव
दिल्ली-110096
ई-मेल : vinodmishra_60@yahoo.com

HBCSE

वर्तमान ग्रामीण परिवेश और कृषि

▪ **विजय चितौरी**

सारांश

स्वतंत्रता बाद के छह दशकों में ग्रामीण परिवेश में उल्लेखनीय बदलाव आये हैं। शिक्षा का तेजी से प्रसार हुआ है। ग्रामीण क्षेत्रों में आधारभूत ढाँचों का विकास हुआ है। गांवों में स्कूल, अस्पताल और सड़कों का जाल फैल गया है। इन बदलावों के साथ-साथ सामाजिक ताना-बाना भी बदला है। रूढ़ियों और अंधविश्वासों में कमी आई है। हजारों साल से गाँवों में जड़ जमाये छुआछूत और ऊँचनीच की भावना काफी कम हो गयी है।

लेकिन जो बदलाव सर्वाधिक उल्लेखनीय है वह है कृषि में बदलाव। कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। इसमें बदलाव की सर्वाधिक आवश्यकता भी थी। जब देश आजाद हुआ था, हमारे यहाँ की खेती काफी पिछड़ी हुई थी। कृषि के लिए आधारभूत ढाँचों जैसे सिंचाई, उन्नत बीज, कृषि यंत्र, उर्वरक जैसी सुविधाएं नहीं थीं। देश में भुखमरी की स्थिति थी। अनाज विदेशों से मंगाना पड़ता था। इन्हीं परिस्थितियों में सत्तर के दशक में हरित क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। खेती के लिए आधारभूत ढाँचे का विकास किया गया। उन्नत बीजों को या तो आयात किया गया या उन्हें देश में ही विकसित किया गया। उन्नत कृषि यंत्रों सिंचाई व्यवस्था और उर्वरक कारखानों की स्थापना की गयी। परिणाम सकारात्मक निकले। देश में खाद्यान्न उत्पादन तेजी से बढ़ा। नब्बे का दशक आते आते देश खाद्यान्न मामले में आत्मनिर्भर तो हुआ ही, खाद्यान्न का निर्यात भी करने लगा।

जैसे-जैसे हरित क्रान्ति की उपलब्धियाँ सामने आने लगीं इसके नकारात्मक पहलू भी सामने आने लगे। देश के जिन इलाकों में हरित क्रान्ति फली फूली वहाँ का भू-जल स्तर तेजी से गिरा। जल समस्या पैदा हुई। खेती की लागत लगातार बढ़ती गयी। बिना कर्ज लिए खेती करना संभव नहीं रहा। किसान कर्ज जाल में फंसा फलत : आत्महत्याओं का दौर शुरू हुआ। अंधाधुंध कीटनाशकों के उपयोग से पर्यावरण प्रदूषित हुआ। कीटनाशकों ने खाद्य श्रृंखला को प्रभावित किया। जिससे गिद्ध जैसे अनेक जन्तुओं के अस्तित्व पर खतरा मंडराने लगा। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि किसान आज हरित क्रान्ति के दुष्चक्र में फंस गया है। वह न तो इसे निगल पा रहा है और न उगल पा रहा है।

इस प्रकरण में सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि देश के एक बड़े भू-भाग में जहाँ हरित क्रान्ति ने दस्तक नहीं दी है, बारानी खेती होती है, वहाँ से किसानों की आत्महत्याओं की खबरें नहीं आयीं। अन्य दुष्प्रभाव भी सामने नहीं आए। हाँ, यह बात ज़रूर है कि इन क्षेत्रों में खेती की ओर ध्यान न देने के कारण यहाँ गरीबी बढ़ी है। बुंदेलखण्ड जैसे क्षेत्रों में अकाल और भुखमरी की खबरें आई हैं।

वास्तविकता यह है कि हरित क्रान्ति वाले क्षेत्र और बारानी खेती वाले क्षेत्र दोनों खेती के दो छोर हैं। एक में पैदावार तो बहुत हो रही है लेकिन उससे कहीं ज्यादा समस्याएं पैदा हो रही हैं। दूसरे में खेती अत्यंत पिछड़ी हुई है। रोजगार के अन्य साधन हैं नहीं। फलत : किसान और आम आदमी का जीवन कठिन से कठिनतर होता जा रहा है। हमें उन दोनों अतियों से हटकर टिकाऊ खेती की ऐसी प्रविधि विकसित करनी होगी जिसमें खेती को रासायनिक खेती के दुष्प्रभावों से बचाया जा सके, जैविक खेती को अपनाया जा सके, किसानों की लागत घटाई जा सके और भरपूर उत्पादन लिया जा सके।

स्वतंत्रता बाद के पिछले छह दशकों में ग्रामीण परिवेश में उल्लेखनीय बदलाव आये हैं। शिक्षा का तेजी से प्रसार हुआ है। कोई गाँव सभा ऐसी नहीं रह गयी है जहाँ प्राथमिक स्कूल न हों। गाँवों के अधिकाँश बच्चे-बच्चियां स्कूल जाते हैं। अधिकांश गाँव पक्की सड़कों से जुड़ गये हैं। सामाजिक ताने-बाने में क्रान्तिकारी बदलाव आये हैं। सदियों से कलंक बनी छुआछूत की समस्या बीते ज़माने की बात हो गयी है। जातीय विषमता अवश्य है लेकिन तेजी से समरसता का वातावरण बन रहा है। सदियों से जड़ जमाए रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर चोट पड़ रही है और ये चीजें समाप्त होती जा रही हैं।

लेकिन इन बदलावों में जो बदलाव सर्वाधिक उल्लेखनीय है वह है खेती के तौर तरीकों में परिवर्तन। सत्तर के दशक तक हमारे यहाँ खेती बारी का तरीका पूर्णतया पारंपरिक था। पूरी कृषि व्यवस्था गो-वंश आधारित थी। हल बैल से खेती होती थी। गोबर से कम्पोस्ट खाद बनती थी। खेत की उर्वरा शक्ति बढ़ाने के लिए हरी खाद का उपयोग भी होता था। कभी-कभी खेत को परती भी छोड़ा जाता था, ताकि वह अपनी खोई उर्वरा शक्ति को हासिल कर सके। सिंचाई की सुविधाएं न के बराबर थीं। जहाँ सिंचाई होती भी थी, काफी श्रमसाध्य थी। तब नहरों और नलकूपों का अता पता नहीं था। सिंचाई के प्रमुख स्रोत या तो तालाब थे, या

HBCSE

कुएँ। कुओं से लोग नार-मोट द्वारा पानी निकालते थे। ज्यादातर खेती भगवान भरोसे थी। किसान ज्यादातर मोटे अनाजों की खेती करते थे।

खेती का यह तरीका पारंपरिक ज़रूर था लेकिन था पूरी तरह वैज्ञानिक। मिट्टी की उर्वरा शक्ति में कमी नहीं होने पाती थी। मिट्टी के सूक्ष्म जीवाणु और केंचुए आदि जो उर्वराशक्ति बढ़ाने का काम करते हैं, पूर्णतया सुरक्षित थे। खेती में उपयोग होने वाले बीज पारंपरिक थे। इसलिए ये क्षेत्र-विशेष के पर्यावरण के लिए अनुकूल थे। इनमें पर्याप्त रोग रोधी क्षमता मौजूद थी। इसके बावजूद यदि फसल में रोग लगता तो उसे किसान जैविक विधियों से आसानी से नियंत्रण कर लिया करते थे। कृषि व्यवस्था वर्षाजल पर निर्भर अवश्य थी लेकिन इस वर्षाजल को संग्रहीत करने के लिए देशभर में तालाबों का जाल बिछा था। तालाबों की उपस्थिति से भूगर्भ जल की उपलब्धता बनी रही। आजकल गर्मियों में पानी के लिए जैसा हाहाकार मचता है वैसा पहले कभी नहीं था।

हमारी इस पारंपरिक वैज्ञानिक कृषि प्रणाली का लोहा अंग्रेजों ने भी माना था। 1889 में डॉ. जॉन बोल्कर को भारतीय खेती में रसायन शास्त्र के प्रयोग की सलाह देने के लिए नियुक्त किया गया था। अपनी रिपोर्ट में वोल्कर ने इंग्लैण्ड की रॉयल एग्रीकल्चरल सोसायटी को लिखा था "मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि यह विचार असत्य है कि भारत की खेती आदिम और पिछड़ी है। यदि यहाँ की खेती किसी मामले में पिछड़ी है तो यह कि यहाँ वे सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं जो अन्य स्थानों पर हैं। मैं निडर होकर कहना चाहता हूँ कि ब्रिटिश कृषि के विकास के लिए सुझाव देना आसान है परन्तु भारत के लिए कठिन है। यह निश्चित है कि मैंने कहीं भी कृषि की ऐसी उत्तम तस्वीर नहीं देखी जहाँ कठोर श्रम, अध्यवसाय और उपजाऊ संसाधनों के मेल से सावधानी पूर्वक खेती की जाती है।"

हरित क्रान्ति का पदार्पण

भारतीय कृषि की पारंपरिक वैज्ञानिक व्यवस्था को तोड़ने का पहला काम अंग्रेजों ने किया। पचास का दशक आते आते खेती की स्थिति काफी बिगड़ गयी थी। 1942-43 में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा था जिसमें करीब 50-60 लाख लोग भोजन के अभाव में मर गये थे। यह वह समय था जब देश

हरित क्रान्ति

में कहीं न कहीं अकाल पड़ते ही रहते थे। इस समय खाद्यान्न उत्पादन करीब 5 करोड़ टन के आस-पास स्थिर था जो यहाँ की जनसंख्या के लिए अपर्याप्त था। स्वतंत्र भारत की सरकार ने कृषि के विकास के लिए 1952 में अमरीका की मदद से सामुदायिक विकास कार्यक्रम परियोजनाएं बनाईं। एक परियोजना में दस गाँव थे। परियोजना को अमरीका की फोर्ड फाउन्डेशन मदद दे रहा था।

वर्ष 1959 में फोर्ड फाउन्डेशन का भारत में दौरा हुआ। दौरे के बाद सामुदायिक विकास कार्यक्रम को बन्द कर दिया गया। तर्क दिया गया कि भारत के 550,000 गाँवों में एक साथ यह कार्यक्रम चलाना संभव नहीं है। नया सुझाव आया कि देश के कुछ जिलों को चुनकर उनमें गहनता से काम किया जाए। इस तरह 1960-61 में सघन कृषि विकास कार्यक्रम (आई.ए.डी.पी.) की शुरूआत हुई। आई.ए.डी.पी. हरित क्रान्ति की अग्रदूत थी। इसने बड़े पैमाने पर रासायनिक खादों के इस्तेमाल की वकालत की। साथ-साथ इसने खेती के लिए अन्य इन्फ्रास्ट्रक्चर जैसे सिंचाई सुविधाएँ बढ़ाने तथा उन्नत बीजों के इस्तेमाल की भी वकालत की।

हरित क्रान्ति का प्रयोग देश के कुछ चुनिंदा क्षेत्रों में शुरू किया गया जहाँ पहले से खेती की अनुकूल परिस्थितियाँ जैसे उर्वर ज़मीन और जल की पर्याप्त उपलब्धता मौजूद थी। ये क्षेत्र पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र आदि थे। यहाँ की बहुफसली खेती को योजनाबद्ध एवं चरणबद्ध रूप से समाप्त करके एक फसली गेहूँ, धान के लिए विकसित किया गया। इन क्षेत्रों में भूगर्भ जल के दोहन के लिए नलकूपों के निर्माण को प्रोत्साहित किया गया। सड़क, बिजली, मण्डी, कृषि यंत्र, उर्वरक और कीटनाशक कारखानों का विकास किया गया। जिन क्षेत्रों में जमीन कम उर्वर थी, सिंचाई की उत्तम व्यवस्था संभव नहीं थी और जहाँ संकर बीजों के उपयोग लायक इन्फ्रास्ट्रक्चर बनाना मुश्किल था वहाँ की खेती को राम भरोसे छोड़ दिया गया।

इस हरित क्रान्ति से आशानुरूप सफलता मिलनी प्रारम्भ हुई। 1978-79 में अनाज का उत्पादन 13.1 करोड़ टन हुआ जो उस समय एक रिकार्ड था। भारत दुनिया के अनाज उत्पादकों में अग्रणी देश बन गया। 1947-79 के बीच 30 % उत्पादन में बढ़ोत्तरी हो गयी थी। हरित क्रान्ति के इन वर्षों में संकर बीजों का उपयोग 7 प्रतिशत से बढ़कर 22 प्रतिशत हो गया। गेहूँ की फसल में 70 प्रतिशत, धान में 35 प्रतिशत मोटे अनाज और मक्का में 22 प्रतिशत संकर बीजों का प्रयोग होने लगा था।

HBCSE

हरित क्रांति के दुष्प्रभाव

इसमें दो राय नहीं कि हरित क्रान्ति की बदौलत ही देश अनाज के मामले में आत्म निर्भर हुआ है। 1950-51 में देश में जहाँ कुल अनाज का उत्पादन 5 करोड़ टन था वहीं 2003-04 तक यह बढ़कर 21 करोड़ टन हो गया। उसके बाद से अब तक यह उत्पादन लगभग स्थिर है। लेकिन आत्म निर्भरता की इस मंजिल तक पहुंचने के लिए देश को बहुत कुछ गंवाना पड़ा। इसमें सबसे उल्लेखनीय तो उन हजारों किसानों की आत्महत्याएँ ही हैं जो हरित क्रान्ति के क्षेत्रों में घटित हुईं। पर्यावरण का विनाश, जैवविविधता का खात्मा, मिट्टी का बंजर होना, प्रदूषण, भूगर्भजल का सूखना जैसे तमाम मुद्दे यदि जोड़ दिये जाएँ तो असमंजस उत्पन्न हो जायेगा कि यह हरित क्रान्ति देश के लिए वरदान बनकर आई या अभिशाप।

मिट्टी बाँझ हो गई

मिट्टी वास्तव में एक जैविक संरचना है। इसमें असंख्य सूक्ष्म जीव होते हैं जो हवा की नाइट्रोजन एवं अन्य सूक्ष्म तत्वों को लगातार मिट्टी में मिलाकर उसे उपजाऊ बनाते हैं। यही नहीं इसी मिट्टी में केंचुए जैसे तमाम जीव भी होते हैं जो मिट्टी की गुणवत्ता को लगातार बढ़ाते रहते हैं।

बाँझ मिट्टी

लेकिन हरित क्रान्ति ने मिट्टी की इस जैविक संरचना को तहस-नहस कर दिया। जहाँ जितना ही अधिक उर्वरकों का उपयोग हुआ वहाँ की मिट्टी को उतना ही अधिक नुकसान हुआ। मिट्टी का प्राकृतिक गुण नष्ट हो जाने पर यह मृतप्राय हो गयी। अनाज उत्पादन के लिए यह अधिक से अधिक उर्वरकों की माँग करने लगी। पिछले करीब एक दशक से स्थिति यह हो गयी है कि अब कितना ही अधिक उर्वरक दिया जाय लेकिन पैदावार स्थिर हो गयी है।

फसल विविधता का चक्र टूट गया

हमारे यहाँ की पारंपरिक खेती मिश्रित खेती हुआ करती थी। एक साथ ही कई फसलें बोई जाती थीं। मुझे याद है, बचपन में हमारे यहाँ खरीफ की खेती में अरहर, बाजरा, तिल, मूँग, रेड़ी आदि एक साथ बोए जाते थे। इसका एक फायदा यह था कि एक बार की जुताई और बुवाई में साल भर तक फसल ली जाती थी। पहले मूँग और तिल तैयार होता था,

इसके पश्चात बाजरा तैयार होता था। बाजरे के बाद अरहर और रेड़ी की फसल ली जाती थी। इस तरह की खेती का दूसरा बड़ा फायदा यह था कि यदि कोई फसल नहीं होती थी या बीमारी से ग्रस्त हो जाती थी तो अन्य कुछ फसलों का होना निश्चित था, यानी घाटे का कोई सवाल नहीं था। इस मिश्रित खेती से मिट्टी की उर्वरता पर भी कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता था।

हरित क्रान्ति वाले क्षेत्रों में मिश्रित फसलों की यह खेती समाप्त हो गई। दलहन और तिलहन का उत्पादन लगातार घटता गया। पंजाब जहाँ सभी तरह की फसलें उगाई जाती थीं, वहाँ अब मात्र गेहूँ और धान की खेती ही हो रही है। महाराष्ट्र के अधिकांश हिस्सों में गन्ना कपास, केला और सन्तरा जैसी नकदी फसलें ही ली जा रही हैं। यही स्थिति उत्तर प्रदेश और अन्य हरित क्रान्ति वाले क्षेत्रों की हुई है। इन सब कारणों से 1950 से 1965 के दौरान भारत में जहाँ दलहनी फसलों का कुल उत्पादन 1.62 प्रतिशत था बाद के दस वर्षों में घटकर यह 0.2 प्रतिशत रह गया। यही हाल तिलहनी फसलों का हुआ। अब दलहन और तिलहन को विदेशों से आयात करना पड़ रहा है।

आमतौर पर यह मान लिया गया कि संकर किस्में अधिक उत्पादन देती हैं। लेकिन अध्ययन बताते हैं कि अधिक उत्पादकता के पीछे प्रमुख भूमिका सिंचाई और रासायनिक खादों की है। यदि देशी प्रजातियों को भी इसी तरह की सहूलियत दी जाय तो उनसे भी इतना ही उत्पादन लिया जा सकता है। देशी प्रजातियों में दाने और भूसे का एक आदर्श अनुपात होता है। आखिरकार प्रकृति को जानवरों के चारे की व्यवस्था भी तो करनी है। जब लोग किसी किस्म की गुणवत्ता की बात करते हैं तो आम तौर पर दाने की ही बात करते हैं, पौधे के अन्य भागों की नहीं। अगर सबका दाम जोड़ा जाय तो देशी बीज संकर किस्मों से किसी तरह भी कम नहीं होते। कई बार ऐसा भी होता है कि देशी प्रजातियां अधिक लोकप्रिय होती हैं तथा अधिक दाम में बिकती हैं। एक उदाहरण देखें : धान की अधिक उपज देने वाली किसी संकर प्रजाति का उत्पादन आम तौर पर 50 क्विंटल प्रति हेक्टेयर तक होता है जबकि देशी प्रजाति के बासमती धान का उत्पादन प्रति हेक्टेयर करीब 30 क्विंटल होता है। बिक्री में संकर प्रजाति का चावल यदि 1000 रुपये प्रति क्विंटल बिकेगा तो बासमती करीब 8000 रुपये प्रति क्विंटल बिकेगा। इस तरह प्रति हेक्टेयर संकर धान से जहाँ आमदनी 1000 x 50 = 50000 रुपये होगी वहीं बासमती से 8000 x 30 = 240000 रुपये की आमदनी होगी।

देशी बीजों में रोग प्रतिरोधक क्षमता होती है। बीमारियाँ कम लगती हैं। थोड़े उपचार से बीमार फसल को बचाया जा सकता है। लेकिन संकर बीजों में तो बीमारी आना तय है। इस तरह हरित क्रान्ति वाले क्षेत्रों में जहरीले रसायनों का उपयोग शुरू हुआ। जैसे-जैसे बीमारी फैलाने वाले कीड़े-मकौड़ों में रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ी, जहरीले रसायनों की मात्रा और उनका ज़हरीलापन बढ़ाया गया। फसलों पर छिड़के गये ये कीटनाशक लम्बे समय तक वातावरण में बने रहे। इनसे हवा, पानी और भोजन सभी प्रदूषित हुए। अन्ततः खाद्य श्रृंखला के साथ ये सभी जीवों, मनुष्यों और पशुओं के शरीर में पहुँच गए। वर्तमान में धरती पर संभवतः ऐसा कोई प्राणी नहीं बचा है जिसके शरीर में कीटनाशकों की उपस्थिति न हो। और तो और माँ के दूध में भी कीटनाशकों की उपस्थिति दर्ज की गई है।

जल संकट बढ़ा

रासायनिक खेती वाली फसलों को अधिक पानी की आवश्यकता होती है। कारण, उर्वरकों के लगातार उपयोग से जमीन की जलधारण क्षमता समाप्त हो जाती है। उदाहरण स्वरूप गेहूँ की फसल के लिए मात्र 300 मि.ली. (12 इंच) पानी की आवश्यकता होती है जबकि अधिक उत्पादन देने वाले गेहूँ के लिए 400 से 1400 मि.ली. (3 से 5 गुना अधिक) पानी की आवश्यकता होती है। रासायनिक खेती में गन्ने के खेत में जितना पानी दिया जाता है जैविक खेती वाले गन्ने से एक तिहाई पानी से ही भरपूर पैदावार ली जा सकती है। सिंचाई के लिए हरित क्रान्ति के इलाकों में नहरों का जाल फैलाने से बड़ी मात्रा में सीपेज और दलदल की समस्या उत्पन्न हुई। यही नहीं इस तरह की सिंचाई से बड़ी मात्रा में जमीनों में क्षारीयता भी बढ़ी।

ताल-तलैयों और बांध-बंधियों जैसे जल के पारंपरिक जलस्रोतों की उपेक्षा से यूँ तो देश में हर जगह जल संकट बढ़ा है। लेकिन सबसे खराब स्थिति हरित क्रान्ति वाले क्षेत्रों की हुई है। यहाँ का भू-गर्भ जल लगातार नीचे खिसकता जा रहा है। जिसके कारण अनेक क्षेत्रों में कुएँ सूख गये हैं और पेयजल संकट उत्पन्न हो गया है। पंजाब और हरियाणा की स्थिति और भी खराब हुई है। मध्य पंजाब चावल और गेहूँ का मुख्य क्षेत्र है। यहाँ 1973 से 1998 तक अक्टूबर दर अक्टूबर भूमिगत जल की कुल गिरावट 3-26 मीटर रही है। इसके बाद यह गिरावट और भी चिन्ताजनक स्थिति में पहुँच गयी। 2003 तक यह गिरावट 7.67 मीटर तथा 2005 तक यह 9.28 मीटर पहुँच गई देश के 596 जिलों में से करीब 264 में भूगर्भ जल स्तर की भारी गिरावट दर्ज की गयी है।

कीटनाशकों ने बिगाड़ा पर्यावरण और स्वास्थ्य

विविधता पर आधारित फसल व्यवस्था का अपना अन्दरूनी सुरक्षा तंत्र होता है। स्थानीय प्रजातियों में बीमारियों के खिलाफ प्रतिरोधक क्षमता होती है। यदि बीमारी का हमला होता भी है तो कुछ पर ही होता है शेष बच जाती हैं। फसल चक्र अपनाने से भी कीट नियंत्रण में मदद मिलती है। जबकि हर वर्ष बड़े क्षेत्र में एक ही फसल पैदा करने से कीटों की संख्या बढ़ती ही जाती है।

कीटनाशकों ने बिगाड़ा पर्यावरण और स्वास्थ्य

इन कीटनाशकों ने पूरे पर्यावरण को बर्बाद कर दिया है। कीटनाशकों का छिड़काव फसलों पर किया जाता है लेकिन यह वहीं तक ही सीमित नहीं रहता। वर्षा जल के साथ यह नदी, नालों और तालाबों में पहुँच जाता है। इसी तरह वायु के साथ दूर-दूर तक वातावरण में फैल जाता है। जल और वायु से ये कीटनाशक खाद्य श्रृंखला के माध्यम से मानव सहित सम्पूर्ण जीवों के शरीर में पहुँच जाते हैं। परिणामस्वरूप फसलों पर छिड़का गया कीटनाशक चारे के द्वारा पशु के शरीर में पहुँच जाता है। यही नहीं यह पशु जब मर जाता है तो इस पशु का मांस खाने वाले गिद्ध-कौवे आदि में भी पहुँच जाता है। आज हम सब जानते हैं कि प्रकृति का सफाईकर्मी गिद्ध कीटनाशकों के कारण ही हमारे बीच से लुप्त हो गया।

बढ़ती कृषिलागत, कर्ज और आत्महत्या का दुश्चक्र

इतिहास में अकाल और भुखमरी के कारण मौतों के दृष्टांत तो अवश्य मिलते हैं लेकिन ऐसा कहीं नहीं मिलता है कि कभी किसानों ने आत्महत्या की हो। किसान कठिन से कठिन परिस्थितियों को झेलने के आदी होते हैं। लेकिन आत्महत्या जैसा विचार वे कभी सोच भी नहीं सकते। आज भी देश के उन हिस्सों में जहाँ हरित क्रान्ति ने दस्तक नहीं दी है, बरानी खेती होती है। किसान काफी कठिन जीवन जी रहा है। लेकिन इन क्षेत्रों से किसानों द्वारा आत्महत्या की खबरें नहीं आती। आत्महत्या की खबरें विदर्भ, कर्नाटक, महाराष्ट्र तथा पंजाब के उन क्षेत्रों से आई जहाँ हरित क्रान्ति खूब फली फूली। इन आत्महत्याओं ने हरित क्रान्ति को कटघरे में ला खड़ा किया है।

राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड कार्यालय के अनुसार 1997 से 2007 के बीच देश में 1,82,936 किसानों ने आत्महत्या की। मतलब यह कि हर आधे घंटे में एक किसान द्वारा आत्महत्या। सर्वाधिक खराब स्थिति विदर्भ क्षेत्र की रही। यहाँ के छह जिले यवतमाल, अमरावती, वर्धा, अकोला, बुल्ढाणा तथा वाशिम तो आत्महत्याओं के लिए विशेष रूप से चर्चा में रहे। आजादी बचाओं आन्दोलन की "पर्स्पेक्टिव्स" टीम ने इस क्षेत्र का गहराई से अध्ययन करके उन कारणों को खोजने का प्रयास किया जिनके कारण यहाँ इतनी बड़ी मात्रा में मौतें हुई।

विदर्भ का क्षेत्र काफी पहले से कपास के लिए जाना जाता रहा है। 1970 के दशक से इस क्षेत्र में एच.वाई.वी. यानी अधिक उत्पादन देने वाली कपास की खेती प्रारम्भ हुई। इससे रासायनिक खाद और कीटनाशक दोनों का इस्तेमाल बढ़ा। इस तरह किसान की लागत बढ़नी शुरू हुई। इसके लिए किसानों ने कृषि सहकारी समितियों, बैंकों और साहूकारों से कर्ज लेना शुरू किया। तमाम उपायों के बावजूद जब उनकी फसल खराब हो जाती या भाव बहुत गिर जाते तब वे कर्ज नहीं उतार पाते। सबसे दुःखद स्थिति तब उत्पन्न होती जब अगली फसल की बुवाई के लिए कहीं से उन्हें ऋण न मिलता। कई बार ऋण वसूलने वालों की बदसलूकी भी सहनी पड़ती। किसान को दूर-दूर तक जब कोई सहारा नहीं दिखता तो वह आत्महत्या की ओर रुख कर लेता है। सर्वेक्षण में देखा गया है कि सर्वाधिक आत्महत्या छोटी जोत वाले किसानों ने की जो ज्यादातर निम्न या पिछड़ी जाति के थे। आत्महत्या करने वाले अधिकांश किसान नकदी फसल कपास के उत्पादक थे।

कपास

गैर हरित क्रान्ति वाले क्षेत्रों की खेती

हमारे देश की करीब साठ प्रतिशत ज़मीन पर बारानी खेती होती है। उत्तरांचल, बुंदेलखण्ड और पूर्वोत्तर भारत के अधिकांश इलाकों में बारानी खेती ही होती है। बेहद गरीबी और अत्यन्त पिछड़ी खेती होने के बावजूद इन क्षेत्रों में किसानों द्वारा आत्महत्याओं की खबरें प्राय: नहीं आती हैं। यहाँ की बारानी खेती वास्तव में पारंपरिक खेती है जिसे आजकल जैविक

खेती कहा जाता है। इन क्षेत्रों में खेती का आधुनिक इन्फ्रास्ट्रक्चर मौजूद नहीं है। सिंचाई की व्यवस्था नहीं है। ज्यादातर मोटे अनाजों की खेती होती है। रासायनिक खाद और कीटनाशकों का उपयोग भी नहीं होता।

बारानी खेती

यह पिछड़ी पारंपरिक खेती हरित क्रान्ति के दुष्प्रभावों से बचाव के लिए समाधान प्रस्तुत कर सकती है। सौभाग्य से वर्तमान में भारत में और विश्व के अन्य उन्नत देशों में पारंपरिक खेती यानी जैविक खेती में उपयोगी अनुसंधान भी हो रहे हैं।

जैविक खेती

"जैविक खेती" में जैविक शब्द मिट्टी में उपस्थित उन सूक्ष्म जीवों को दर्शाता है जो मिट्टी को उपजाऊ बनाते हैं और जिनकी उपस्थिति के कारण मिट्टी में किसी तरह की रासायनिक खादों की आवश्यकता नहीं पड़ती। भारत में जैविक खेती का इतिहास काफी प्राचीन है। इसका उल्लेख ऋग्वेद, रामायण, महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र और बाद के अनेक ग्रन्थों में मिलता है। ऋग्वेद में उल्लेख है कि पौधों की वृद्धि के लिए बकरी, भेड़ एवं गाय के गोबर तथा सड़े गले मांस को मिट्टी में मिलाने से उर्वरता बढ़ती है तथा पौधों की वृद्धि होती है। सोलहवीं शताब्दी में घाघ एवं भड्डरी दो महान कृषिवेत्ता हुए हैं जिन्होंने कृषि में खादों के महत्व का भरपूर उल्लेख किया है।

जैविक खेती

आधुनिक भारत में जैविक कृषि की शुरूआत का श्रेय 1900 ई0

में ब्रिटिश कृषि वैज्ञानिक सर एलबर्ट हावर्ड को जाता है। डा. हावर्ड ने माइकोराइजा जैविक कम्पोस्ट का आविष्कार किया था। आगे चलकर महात्मा गाँधी ने जैविक खेती की पुरजोर वकालत की। गाँधी जी का दृढ़ विश्वास था कि भारत कृषि के क्षेत्र में तभी स्वावलम्बी हो सकता है जब वह स्थानीय रूप में उपलब्ध संसाधन जैसे जैवखाद का भरपूर उपयोग करें। महात्मा गाँधी हिन्दी साहित्य सभा की बैठक हेतु 23 अप्रैल, 1935 को इंदौर के कृषि महाविद्यालय में पधारे थे। वहां उन्होंने इन्दौर कम्पोस्ट विधि का अवलोकन किया था। उस समय देशी खाद बनाने की इस विधि का जोर-शोर से प्रचार किया जा रहा था। गाँधी जी ने हरिजन के 28 दिसम्बर 1947 के अंक में कहा था "जानवरों एवं मनुष्यों के मलमूत्र को कचरे में मिलाकर उत्तम खाद बनाई जा सकती है। यह बहुत ही मूल्यवान वस्तु है। इसे डालने से जमीन की उर्वराशक्ति बढ़ती है। इस खाद का निर्माण ही ग्रामोद्योग है। अन्य ग्रामोद्योगों की तरह यह भी तब तक परिणाम नहीं दिखाती जब तक कि उसे पुनर्जीवित करने के लिए देश के करोड़ो लोग मिलकर उसे समृद्ध न बनाएँ।"

मध्य प्रदेश देश का पहला राज्य है जहाँ जैविक खेती में काफी काम हुआ है। यहाँ सन् 1993-94 में कृषि महाविद्यालय इन्दौर के प्रोफेसर डॉ0एम0एस0 त्रिफले और वी0एन0 श्राफ के निर्देशन में प्रदेश का पहला जैविक खेती ग्राम जोशी गुराड़िया विकसित किया गया। यहाॅ 25 प्रतिशत कम खर्च करके सवाई से ड्योढ़ा अधिक उत्पादन लिया गया। मध्य प्रदेश शासन ने वर्ष 2000-2001 में प्रदेश के प्रत्येक ब्लॉक में एक जैविक ग्राम विकसित करने का निर्णय लिया। प्रारम्भिक सफलता को देखते हुए वर्ष 2002-03 में प्रत्येक ब्लॉक में तीन जैविक ग्राम विकसित करने का निर्णय लिया गया। जैविक खेती का संदेश गाँव-गाँव पहुँचे, इसके लिए यहाँ 2002 में एक जैविक खेती जनजागरण पदयात्रा आयोजित की गयी। 4 सितम्बर से 2 अक्टूबर तक चली इस पदयात्रा का समापन इन्दौर में हुआ। यहाँ जैविक ग्रामों की संख्या प्रदेश में सर्वाधिक है।

भारत में जैविक खेती की संभावनाएं

भारत में जैविक खेती की अपार संभावनाएँ हैं। देश के तमाम हिस्सों में आज भी पारंपरिक खेती ही हो रही है। ये क्षेत्र कुल कृषि क्षेत्र के लगभग 60 प्रतिशत हैं। यहाँ की खेती बहुत कुछ वर्षा जल पर आधारित है। इसीलिए यहाँ की खेती को बारानी खेती भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत भारत का पूर्वोत्तर क्षेत्र और उत्तरांचल के अलावा तमिलनाडु, केरल,

मध्य प्रदेश, हिमांचल प्रदेश और गुजरात का विशाल जंगली क्षेत्र आता है। यहाँ अभी भी बहुत कुछ पारंपरिक खेती ही हो रही है। उत्तरांचल और सिक्किम दो ऐसे राज्य हैं जो पहले ही जैविक राज्य घोषित किये जा चुके हैं।

उक्त के अलावा भारत की परिस्थितियाँ भी जैविक खेती के लिए बहुत उपयुक्त हैं। यहाँ प्रतिवर्ष 100 से लेकर 1000 मिमी. वर्षा होती है। यहाँ पहाड़, जंगल, पारंपरिक कृषि पद्धति, मेहनती किसान, पालतू पशुओं की विशाल संख्या और 60 प्रतिशत बारानी क्षेत्र का मजबूत ढांचा है। वर्ष 2000 के बाद से देश में प्रमाणित जैविक खेती के क्षेत्र में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। वर्तमान में अनुमान है कि देश में 80,000 हेक्टेयर प्रमाणित जैविक खेती के अन्तर्गत भूमि है तथा 24 लाख हेक्टेयर प्रमाणित वन क्षेत्र हैं। इन प्रमाणित वन क्षेत्रों में जड़ी बूटियों का संग्रह किया जाता है। जिनकी विश्व बाजार में ज़बरदस्त माँग है।

भारत में जैविक खेती की अपार संभावनाएँ हैं क्योकि :

(1) **देश की 60 प्रतिशत खेती वर्षा आधारित -** देश की कुल खेती का 60 प्रतिशत वर्षा आधारित है। यानी देश का अधिकांश हिस्सा हरित क्रांति से अछूता है। ऐसे क्षेत्रों में देश का पूर्वोत्तर क्षेत्र, उत्तराचल और वन्य क्षेत्र प्रमुख हैं। सच बात तो यह है कि वर्तमान में यहां जो खेती हो रही है वह जैविक खेती ही है। आवश्यकता है कि इन क्षेत्रों में हो रही खेती में जैविक खेती की विधियों को अपनाकर और उन्नत किया जाय। यह कार्य कम खर्च में संभव है। इससे इन क्षेत्रों की गरीबी तो दूर होगी ही, भारत जैविक खेती के विश्व मानचित्र में उभरेगा।

(2) **देश में जैविक खेती की समृद्ध परम्परा -** गोवंश पर आधारित जैविक खेती की परंपरा हमारे देश में प्राचीन काल से ही रही है। हरित क्रांति ने लगातार गोवंश को विस्थापित किया। गांवों में बैल नहीं दिखते। फलत : गोबर का भी अकाल हुआ। खेत की उर्वरता बनाये रखने के लिए अंधाधुंध रसायनों का उपयोग हुआ। इन सबका परिणाम सामने है। जैविक खाद प्राप्त करने के लिए एक बार पुनः हमें गोवंश आधारित खेती की ओर लौटना होगा।

(3) **जैविक खेती में लागत काफी घट जायेगी -** हमारे देश का इतिहास काफी उथल-पुथल भरा रहा है। प्राकृतिक आपदाएँ जैसे सूखा, बाढ़, अकाल आदि भी आते रहे हैं। भूख से भी तमाम मौतें होती सुनी गयी हैं। लेकिन इतिहास में ऐसा कहीं नहीं

मिलता कि किसानों नें हताशा में आत्महत्या की हो। किसानों में यह हताशा हरित क्रान्ति ने पैदा की है। हताशा का सबसे बड़ा कारण यह रहा है कि खेती की लागत काफी बढ़ गयी है। इतना अधिक कि वह स्वयं इसे उठाने में असमर्थ हो गया। उसने बैंकों से या साहूकारों से कर्ज लिया। इन सब के बावजूद फसल खराब हो जाने या भाव गिर जाने पर जब किसान घाटे में चला जाता है तो वह कर्ज से उबर नहीं पाता। ऐसी स्थिति में अगली फसल के लिए उसे कर्ज नहीं मिल पाता। उसकी खेती नष्ट हो जाती है। यह हताशा की स्थिति होती है जो किसान को आत्महत्या के लिए विवश करती है। जैविक खेती में लागत काफी कम हो जायेगी जिसे किसान स्वयं उठा लेगा। जिससे देश में हो रही किसानों की आत्महत्या की घटनाओं में कमी आयेगी।

(4)**जैविक खेती लाभकारी है -** प्रदूषण के खिलाफ विश्वव्यापी चेतना का असर हमारे अपने देश में भी है। हमारे बीच बड़ी संख्या में ऐसे लोग हैं जो अधिक दाम देकर भी जैविक खाद्यान्न, फल और तरकारियाँ खरीदना चाहेंगे। देश के अनेक महानगरों में अनेक ऐसे प्रतिष्ठान खुल चुके हैं जहाँ जैविक खाद्य ही मिलते हैं और जिनके यहाँ उपभोक्ताओं की भीड़ लगी रहती है। जैविक खाद्यों का यह बाजार निश्चय ही बढ़ेगा। इस तरह जैविक खेती करने वाले किसानों के लिए अच्छी संभावनाएँ हैं।

(5)**अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियों में जैविक खाद्यों की माँग**- अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस समय जैविक खाद्यान्नों की जबरदस्त मांग है जो निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। इस विश्व बाजार में भारत का दखल अभी बहुत कम है। देश में जैविक खेती को बढ़ावा देकर विश्व बाजार में दखल बढ़ाया जा सकता है और बहुमूल्य विदेशी मुद्रा कमायी जा सकती है।

➢ संपादक
"गाँव की नई आवाज"
ग्रामोदय प्रकाशन
धूरपुर, वाया जसरा
इलाहाबाद-212107